नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 137 • वर्ष 12 अंक 10
नवम्बर 2009 • तीन रुपये • 16 पृष्ठ

एक युद्ध जनता के विरुद्ध : पूरे देश में सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून लागू करने की तैयारी

दबे पाँव दहलीज़ तक आ पहुँचा है अघोषित आपातकाल!

उसकी आहट पहचानो, ख़ूनी पंजों के निशानों की शिनाख़्त करो!

सम्पादक मण्डल

अभी 'बिगुल' के पिछले ही अंक में प्रकाशित अग्रलेख में हमने यह चेतावनी दी थी कि "वामपन्थी" उग्रवाद से निपटने के नाम पर भारतीय शासक वर्ग और उसकी राज्यसत्ता आम जनता के ख़िलाफ़ एक खूनी युद्ध की तैयारी में लग चुकी है। हाल की घटनाओं ने इस तथ्य की पूरी तरह से पुष्टि कर दी है।

15 अक्टूबर 2009 के **'हिन्दू'** अखबार में श्रीनगर से प्रकाशित **शुजात बुखारी** की रिपोर्ट के मुताबिक, सामाजिक और अवरचनागत मामलों पर वहाँ आयोजित अखिल भारतीय सम्पादक सम्मेलन में गृहमन्त्री चिदम्बरम ने कहा कि सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून में संशोधन का प्रस्ताव जल्दी ही मन्त्रिमण्डल के सामने रखा जायेगा। उन्होंने बताया कि ये संशोधन केवल सम्भावित युद्ध की दृष्टि से सुधारना-सँवारना ज़रूरी है।

किन क्षेत्रों में अब तक लागू हुआ है 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून' और क्या सामने आये हैं उसके नतीजे?

दिलचस्प बात यह है कि यह काला क़ानून भी हमारे शासक वर्ग को बर्तानवी हुकूमत से विरासत में मिला है। 1942 के जनउभार को कुचलने के लिए अंग्रेज़ों ने 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अध्यादेश - 1942' जारी किया था और फिर इसका जमकर इस्तेमाल भी किया गया था। हूबहू इसी के साँचे में ढालकर 1958 में भारतीय संसद में एक विधेयक तत्कालीन गृहमन्त्री गोविन्द वल्लभ पन्त द्वारा प्रस्तुत किया गया, जो पारित होने के बाद 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून - 1958' (ए.एफ.एस.पी.ए.) बन गया।

दमन से नहीं दबाया जा सकेगा जनज्वार! जितना दमन होगा उतना ही प्रतिरोध होगा!

जम्मू-कश्मीर में ही नहीं, बल्कि पूरे देश में लागू होंगे।

इन प्रस्तावित संशोधनों के दो पहलू हैं। पहला यह कि आज़ाद भारत के सर्वाधिक निरंकुश दमनकारी इस काले-क़ानून को अमल में लाते हुए सेना ने कश्मीर घाटी और पूर्वोत्तर भारत में फ़ासिस्ट दमन का जो बर्बर नंगनाच किया है, उसके ख़िलाफ़ वहाँ सड़कों पर उमड़ते जन-प्रतिरोध का ज्वार लाख कोशिशों के बावजूद दबाया नहीं जा सका है। इसलिए इस दानवी क़ानून को कुछ "मानवी" शक्ल देने की ज़रूरत हुकूमती हलकों में शिद्दत के साथ महसूस की जा रही थी। इसका दूसरा पहलू यह है कि यदि अर्द्धसैनिक माओवादी सशस्त्र प्रतिरोध को कुचलने में नाक़ाम रहते हैं, तो पूरे देश के प्रभावित हिस्सों में सेना के इस्तेमाल को जायज़ ठहराने की क़ानूनी तैयारी समय रहते कर ली जाये। इसलिए शस्त्रागार में पहले से मौजूद इस शस्त्र को अब पूरे देश में जनता के विरुद्ध

1958 में यह क़ानून असम और मणिपुर के पूर्वोत्तर राज्यों के लिए बना था। 1972 में इसे संशोधित करके पूर्वोत्तर के सभी सात राज्यों – असम, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम और नगालैण्ड में लागू करने की घोषणा की गयी। फिर 1990 में एक संशोधन के बाद इसे जम्मू-कश्मीर में भी लागू कर दिया गया। इन क्षेत्रों के बारे में विस्तार में चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। संक्षेप में, इन सभी राष्ट्रीयताओं के लोग 1947 से ही अपने को दबाया और ठगा हुआ महसूस करते रहे हैं और दिल्ली की सत्ता को बलात थोपी गयी औपनिवेशिक सत्ता से अधिक कुछ नहीं मानते। जहाँ तक पूर्वोत्तर के भूराजनीतिक इतिहास का सवाल है, भारतीय उपमहाद्वीप के साम्राज्यों के उतार-चढ़ाव प्रभाव से 19वीं शताब्दी तक यह क्षेत्र कमोबेश अछूता था। इसकी राजनीतिक-आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाएँ दक्षिण-पूर्व एशिया से जुड़ी रही थीं। पहली बार बर्मी विस्तार को रोकने के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने आज के मणिपुर और असम में प्रवेश किया। मणिपुर के राजा के साथ 1828 में हुई यान्दाबो सन्धि के अनुसार, असम ब्रिटिश भारत का अंग हो गया, लेकिन मणिपुर में वहाँ के राजा के ज़रिये ही ब्रिटिश भारत का परोक्ष प्रभाव बना रहा। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान पूर्वोत्तर के इसी सँकरे गलियारे से होकर जापानियों ने भारतीय उपमहाद्वीप में प्रवेश किया। इस घटना ने भारत के तत्कालीन और भावी शासकों को इस इलाके के रणनीतिक महत्व का अहसास कराया।

1947 में ब्रिटिश शासकों के भारत छोड़ने के बाद, इस इलाके में एक राजनीतिक शून्य-सा पैदा हो गया। यहाँ की जनता की नियति का निर्णय उसकी राय लिये बिना दूरस्थ राजधानियों में हुआ और इस पूरे इलाके के अलग-अलग भाग भारत, बर्मा, पूर्वी पाकिस्तान और चीन में शामिल कर लिये गये। 1947 में मणिपुर संविधान क़ानून के अनुसार, मणिपुर में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई और विधायिका के चुनाव हुए। 1949 में भारत सरकार के एक वरिष्ठ अधिकारी वी.पी. मेनन ने राजा को क़ानून-व्यवस्था पर विचार-विमर्श के लिए शिलांग बुलाया और फिर वहाँ बलात विलय समझौते पर हस्ताक्षर करा लिये गये। इस समझौते को मणिपुर असेम्बली से पारित कराने

(पेज 4 पर जारी)

गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन पर विशेष खण्ड • पृ. 7–11

- मज़दूर आन्दोलन की शानदार जीत – मज़दूरों की जुझारू एकता और भारी जनदबाव के आगे प्रशासन झुकने के लिए बाध्य
- थैली की ताक़त से सच्चाई को ढँकने की नाकाम कोशिश
- देशभर से आन्दोलन के साथ खड़े हुए मज़दूर संगठन, नागरिक अधिकार कर्मी, बुद्धिजीवी और छात्र-नौजवान संगठन

भीतर के पन्नों पर

मेहनतक़शों की जेब पर शीला सरकार का डाका! –पृ. 3
जानलेवा महँगाई ग़रीबों के जीने के अधिकार पर भी हमला है! – पृ. 3
फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें? – पृ. 12
गुड़गाँव: यह सतह के नीचे धधकते ज्वालामुखी का संकेत भर है –पृ. 16
केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों का संयुक्त तमाशा – पृ. 16

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

अक्टूबर क्रान्ति की 91 वीं वर्षगाँठ पर बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से "मज़दूरों का समाजवाद क्या है" विषय पर विचार गोष्ठी का आयोजन

बिगुल संवाददाता, लुधियाना

महान अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति की 91वीं वर्षगाँठ के अवसर पर 25 अक्टूबर को बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से लुधियाना में "मज़दूरों का समाजवाद क्या है" विषय पर विचार संगोष्ठी का आयोजन किया गया। समराला चौक के पास स्थित इ.डब्ल्यू.एस. कालोनी के निष्काम विद्या मन्दिर स्कूल में आयोजित की गयी इस विचार संगोष्ठी में लगभग 50 मज़दूर शामिल हुए। उन्होंने अक्टूबर क्रान्ति के दौरान शहीद होने वाले हजारों मज़दूर शहीदों की याद में खड़े होकर दो मिनट का मौन रखा और मज़दूर वर्ग का अन्तरराष्ट्रीय गीत "इण्टरनेशनल" गाया।

गोष्ठी का संचालन कर रहे लखविन्दर ने विचार संगोष्ठी की शुरुआत करते हुए कहा कि रूस में 25 अक्टूबर 1917 को होने वाली मज़दूर क्रान्ति दुनिया की तब तक की सबसे महान घटना थी। यह पहला मौका था जब राज्यसत्ता किसी शोषक वर्ग के हाथों से निकलकर शोषित-उत्पीड़ित वर्ग के कब्ज़े में आ गयी। यह सचेतन तौर पर की जाने वाली दुनिया की सबसे पहले क्रान्ति थी जिसका मकसद था इन्सान के हाथों इन्सान की हर तरह की लूट का ख़ात्मा। इस क्रान्ति ने पूरे ज़ोर के साथ सम्पत्तिवान वर्गों का तख्ता पलट दिया। इस क्रान्ति ने दिखा दिया कि अगर समाज का नियन्त्रण मज़दूर वर्ग के हाथों में आ जाये तो मेहनतकश वर्गों की चेतना, संस्कृति, शिक्षा के साथ-साथ विज्ञान, तकनीकी और स्वास्थ्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास किया जा सकता है। यह एक युगप्रर्वतक घटना थी जिसके बाद मज़दूर क्रान्तियों के युग की शुरुआत हुई। महान अक्टूबर क्रान्ति आज भी हमें प्रेरणा दे रही है और उसकी शिक्षाएँ हमारा मार्गदर्शन कर रही हैं।

संगोष्ठी के मुख्य वक्ता बिगुल के सम्पादक मण्डल के सदस्य सुखविन्दर ने "मज़दूरों का समाजवाद क्या है" पर विस्तार से अपनी बात रखते हुए कहा कि सबसे पहले तो हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि दुनिया हमेशा से बदलती आयी है। हमारा समाज हमेशा से ही ऐसा नहीं रहा जैसा कि आज है। बन्दर से मनुष्य का विकास होने के बाद हजारों वर्षों का एक ऐसा समाज भी रहा जहाँ लूट-शोषण का नामों-निशां तक नहीं था। लेकिन इसके बाद दास समाज और सामन्ती समाज से होते हुए समाज ने आज की पूँजीवादी व्यवस्था के दौर में प्रवेश किया। पूँजीवादियों द्वारा दावा किया जाता है कि पूँजीवाद समाज की आखिरी व्यवस्था है लेकिन ऐसा कतई नहीं हो सकता। समाज पहले भी बदलता आया है और अब भी बदलेगा। पूँजीवाद अमर नहीं है। पूँजीवाद के गम्भीर अन्तरविरोध ही पूँजीवाद का अन्त कर देंगे। एक तरफ पैदावार का समाजीकरण दूसरी ओर पैदावार के साधनों और पैदावार पर पूँजीपतियों का निजी स्वामित्व - यही है पूँजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध। समाज का यही अन्तरविरोध मेहनतकशों की सारी समस्याओं की जड़ है। इसी वजह से एक तरफ सम्पत्तिवान वर्गों के पास धन-दौलत के अम्बार लगे हुए हैं वहीं दूसरी तरफ मेहनतकश जनता भूख, ग़रीबी, कंगाली की चक्की में पिस रही है। यही अन्तरविरोध पूँजीवाद के संकटों को जन्म देता है, जब एक तरफ बाज़ार तो माल से ठसाठस भरे होते हैं लेकिन खरीदने वाला कोई नहीं होता। मज़दूरों के भयंकर शोषण से माल का उत्पादन तो बहुत बढ़ जाता है लेकिन व्यापक मेहनतकश आबादी के पास इतना पैसा ही नहीं होता कि वह इन मालों को खरीद सके। इसे अतिउत्पादन का संकट कहा जाता है। यही अन्तरविरोध पूँजीवाद के अन्त का कारण भी बनेगा। सचेतन तौर पर संगठित मज़दूर वर्ग हथियारबन्द क्रान्ति द्वारा पूँजीपति वर्ग का तख्ता पलट कर, राज्यसत्ता अपने हाथ में लेकर समाज के पैदावार के साधनों और पैदावार के सम्पूर्ण समाजीकरण की तरफ कदम बढ़ायेगा। रूस की महान अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति ऐसा पहला प्रयास था। सुखविन्दर ने कहा कि महान अक्टूबर क्रान्ति युगों-युगों तक, जब तक पूँजीवाद का सम्पूर्ण नाश नहीं हो जाता मज़दूर वर्ग को प्रेरणा देती रहेगी और मार्गदर्शन करती रहेगी।

संगोष्ठी में ताज मुहम्मद, शिववर्धन, गोपाल, कस्तूरी लाल, सुदर्शन आदि ने भी अपने विचार प्रकट किए। अक्टूबर क्रान्ति की मशाल को जलाये रखने और और नयी समाजवादी क्रान्ति के कार्यभार को जी-जान से आगे बढ़ाने के संकल्पों के साथ संगोष्ठी का समापन हुआ।

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं। वेबसाइट का पता :

http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता :

http://bigulakhbar.blogspot.com

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**
फ़ोन : 0522-2335237

सम्पादकीय उपकार्यालय : **जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ**

दिल्ली सम्पर्क : **बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94**

ईमेल : **bigul@rediffmail.com**

मूल्य : एक प्रति-रु. 3/- वार्षिक-रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" — लेनिन

'बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए बिगुल कार्यालय को लिखिए।

बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है:
● डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 ● जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे) ● जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001 ● जनचेतना सचल स्टाल, चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

शर्म इनको मगर नहीं आती!

(पेज 16 से आगे)

संघर्ष के स्पष्ट लक्ष्य की समझ तथा आपस में एका न होने के कारण बँटी हुई मज़दूर आबादी अभी धन्धेबाज़ नेताओं के जाल में फँसी हुई है।

भाँति-भाँति के चुनावी वामपंथी दलों की ट्रेड यूनियन दुकानदारियों में सबसे बड़े साइनबोर्ड सीटू और एटक के हैं जो क्रमशः माकपा और भाकपा से जुड़े हुए हैं। ये पार्टियाँ मज़दूर क्रान्ति के लक्ष्य और रास्ते को तो पचास साल पहले ही छोड़ चुकी हैं और अब संसद और विधानसभाओं में हवाई गोले छोड़ने के अलावा कुछ नहीं करतीं। जहाँ और जब इन्हें सत्ता में शामिल होने का मौका मिलता है वहाँ ये पूँजीपतियों को मज़दूरों को लूटने की खुली छूट देने में किसी से पीछे नहीं रहतीं। लेकिन अपना वोटबैंक बचाये रखने के लिए इन्हें समाजवाद के नाम का जाप तो करना पड़ता है और नकली लाल झण्डा उड़ाकर मज़दूरों को भरमाते रहना पड़ता है, इसलिए बीच-बीच में मज़दूरों की आर्थिक माँगों के लिए कुछ कवायद करना इनकी मजबूरी होती है।

इनकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मज़दूरों के उन आर्थिक हितों और सीमित राजनीतिक अधिकारों की हिफ़ाज़त करने की भी गुंजाइश लगातार कम होती जा रही है जिनके लिए आवाज़ उठाने की कमाई माकपा-भाकपा जैसी पार्टियाँ और सीटू-एटक जैसी यूनियनें खाती रही हैं। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों ने अर्थवाद और संशोधनवाद की नकली मज़दूर राजनीति की ज़मीन ही खिसका दी है। जो भी पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार चलायेगा, उसे पूँजीवादी संकट का समाधान व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर ही ढूँढ़ना होगा। और समाधान के मामले में विकल्प सिकुड़ते जा रहे हैं। इसलिए आज एटक और सीटू जैसी ट्रेड यूनियनों के नेता कुछ हवाई गोले छोड़ने और विरोध के नाम पर अपनी नपुंसकता के प्रदर्शन के सिवा कर भी क्या सकते हैं? मज़दूर वर्ग इन मीरजाफ़रों और जयचन्दों से पीछा छुड़ाकर ही ऐसी लड़ाई में उतर सकता है जो पूँजीवाद के बूढ़े राक्षस को उसकी कब्र में धकेलने के बाद ही ख़त्म हो।

असली चुनौती मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली क्रान्तिकारी ताक़तों के सामने है जो आज भी खण्ड-खण्ड में बिखरी हुई हैं और उनमें आगे बढ़ने के स्पष्ट लक्ष्य और दिशा का अभाव है। उन्हें देश और दुनिया की नयी परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करने और विचारधारात्मक भटकावों से मुक्त होने के साथ ही मज़दूर आन्दोलन में सही क्रान्तिकारी जनदिशा अपनाकर काम करना होगा। उन्हें विशाल मज़दूर वर्ग के बीच सघन क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार और संगठन काम काम तेज़ करना होगा। मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और उसके राजनीतिक एवं आर्थिक आन्दोलनों में भागीदारी की प्रक्रिया मज़दूर वर्ग की सच्ची हिरावल पार्टी के निर्माण की प्रक्रिया को भी तेज़ करेगी। उन्हें भयंकर पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न और अपमान से कसमसा रहे मज़दूर वर्ग को यह समझा देना होगा कि अपने तमाम लाव-लश्कर के बावजूद पूँजीवाद का कवच अभेद्य नहीं है। यदि मज़दूर वर्ग सही राजनीति पर संगठित होकर लड़े और व्यापक मेहनतकश अवाम की अगुवाई करे तो उसे चूर-चूर किया जा सकता है। इसलिए पराजय की मानसिकता से, निराशा से मुक्त होना होगा और नये सिरे से संघर्ष की ठोस तैयारी में लग जाना होगा।

मज़दूर आन्दोलन को देशभर से व्यापक समर्थन

(पेज 11 से आगे)

भजन सिंह, लाल झंडा पंजाब निर्माण मजदूर यूनियन के प्रधान हरदेव सिंह सनेत, टेक्स्टाइल एंड होज़री मज़दूर यूनियन के प्रधान श्यामनारायण यादव, ऑल इंडिया सेंटर ऑफ ट्रेड यूनियन्स, लुधियाना के बालकिशन, लोक एकता संगठन के प्रधान गल्लर चौहान, शहीद भगतसिंह विचार मंच के अध्यक्ष प्रो. ए.के. मलेरी ने हस्ताक्षर किये। सभी संगठनों ने कहा कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में उत्तर प्रदेश प्रशासन के मजदूर विरोधी रवैये का भण्डाफोड़ करेंगे और अगर गोरखपुर में गिरफ़्तार मजदूर नेताओं को रिहा नहीं किया गया तो पंजाब से विभिन्न संगठनों का जत्था उनके समर्थन में अभियान चलाने के लिए गोरखपुर भेजा जायेगा।

छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा की ओर से शेख अंसार ने गोरखपुर में मज़दूर आन्दोलन के दमन की कड़ी निन्दा करते हुए मज़दूरों की माँगों पर तुरन्त अमल की माँग की। पुणे से लोकायत संगठन के नीरज जैन, जबलपुर से वरिष्ठ कवि मलय, हैदराबाद से प्रसिद्ध लेखिका रंगनायकम्मा और बी.आर. बापूजी, कोटा से नागरिक अधिकारकर्मी दिनेशराय द्विवेदी, झुंझनू से बजरंगलाल एडवोकेट सहित सैकड़ों व्यक्तियों ने इस आन्दोलन को अपना समर्थन दिया। समर्थन के पत्र, फोन और ईमेल अब भी लगातार मिल रहे हैं।

एक तो महँगाई का साया, उस पर बस किराया बढ़ाया

मेहनतक़शों की जेब पर शीला दीक्षित सरकार का डाका!

● बसों के किराये का सबसे ज्यादा असर मेहनतकश आबादी पर
● ब्लू लाइन बसों को लगातार मुनाफ़ा, लेकिन सरकार रोये डीटीसी के घाटे का दुखड़ा

हर संकट की गाज मज़दूर-किसानों और निम्नमध्यवर्गीय परिवारों पर ज्यादा पड़ती है। यही हालत इस व्यवस्था के पैदा किये हुए आर्थिक संकट में हो रही है। नेताओं, नौकरशाहों, कंपनियों के सीईओ, मालिकों की सुख-सुविधाओं में कोई कमी नहीं आई है, लेकिन महँगाई की वजह से गरीबों का जीना मुहाल हो गया है। उस पर दिल्ली सरकार द्वारा डीटीसी बसों में किराये की बढ़ोतरी 'करेला वह भी नीम चढ़ा' वाले मुहावरे को चरितार्थ कर रही है। और इसका असर भी सबसे अधिक कामगार आबादी पर ही होगा।

कॉमनवेल्थ गेम में अमीरों के लिए सब सरअंजाम जुटाने वाली दिल्ली सरकार आम आबादी की जेब पर सीधा डाका डाल रही है। उसे इस कॉमनवेल्थ गेम्स की जगमगाहट में गरीबों की दुर्दशा नजर ही नहीं आती। यह कॉमनवेल्थ गेम्स आम आबादी के लिए नहीं है और न ही डीटीसी के घाटे का कारण आम आबादी या डीटीसी के साधारण कर्मचारी हैं। मगर इसकी कीमत वे ही चुका रहे हैं।

कॉमनवेल्थ गेम्स के नाम पर दिल्ली का चेहरा चमकाने में लगी सरकार कह रही है कि गेम्स में हो रहे खर्चे की उसे वसूली करनी है। सवाल ये उठता है कि इसका खर्च ग़रीब अपना पेट काटकर क्यों भरे? गेम्स का आयोजन किया जा रहा है भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा दुनिया को अपनी ताक़त दिखाने और दुनियाभर से पूँजीनिवेश को आमंत्रित करने के लिए, मगर इसकी गाज गिर रही है मज़दूरों पर।

डीटीसी के किरायों में इस बढ़ोत्तरी का असर सबसे ज्यादा उस निम्नमध्यवर्गीय आबादी और मज़दूरों पर पड़ेगा जो बसो के जरिए ही अपने कार्यस्थल पर पहुंचते हैं। मेट्रो के आने से उनके लिए बहुत फ़र्क नहीं पड़ा है। क्योंकि एक तो मेट्रो अभी सब जगह नहीं पहुंची है, दूसरा, उसका किराया वे लोग उठा नहीं सकते।

और मज़दूरों और निम्नमध्यवर्ग के लोगों की बड़ी आबादी बसों से ही सफर करती है और एक अच्छी-खासी आबादी को रोज काम के लिए दूर-दूर तक सफ़र करना पड़ता है क्योंकि दिल्ली के सौंदर्यीकरण आदि के नाम पर गरीबों-मज़दूरों की बस्तियों को उजाड़कर दिल्ली के बाहरी इलाकों में पटक दिया गया है। अब कॉमनवेल्थ गेम के नाम पर उन्हें दिल्ली से और दूर खदेड़ा जा रहा है। अिब डीटीसी के किरायों में सीधे दोगुनी वृद्धि से हर महीने 12-14 घंटे हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद 2000 से 2600 रुपये पाने वाले मज़दूर को किराये पर ही 600 से लेकर 900 रुपये तक खर्च करने होंगे। जो मज़दूर पहले ही अपने और अपने बच्चों का पेट काटकर जी रहा है, वह अब कैसे जियेगा और काम करेगा ये सोचकर भी कलेजा मुँह को आता है।

वैसे भी डीटीसी के भ्रष्ट प्रबंधन और सरकारी नीतियों का खामियाज़ा गरीब-मेहनतकश आबादी क्यों भुगते। सरकार क्यों नहीं डीटीसी प्रबंधन के भ्रष्टाचार पर रोक लगाती है और क्यों नहीं अपनी नीतियां बदलती है?

लेकिन वह ऐसा नहीं करेगी क्योंकि ये सभी सरकारें कम्पनियों-कॉरपोरेशनों-मालिकों के इशारे पर नाचती हैं, जो केवल गरीबों का खून चूसकर ही समृद्ध होते हैं। दिल्ली की सरकार समेत देश के तमाम राज्यों की सरकारें और केंद्र सरकार उद्योगपतियों-कारखाना मालिकों के मुनाफे के लिए नीतियाँ बनाती और उन पर सख्ती से अमल करती हैं।

ऐसे में दिल्ली की सरकार यह कभी नहीं स्वीकार करेगी कि डीटीसी के घाटे का कारण डीटीसी का भ्रष्ट प्रबंधन और सरकारी नीतियां हैं। वह कभी नहीं मानेगी कि देशी-विदेशी कम्पनियों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए महँगे दामों पर लो-फ्लोर बसों की खरीद की कोई जरूरत नहीं है। इस कीमत में तीन साधारण बसें खरीदी जा सकती हैं। पिछली दिनों खरीदी गयी 102 लो फ्लोर बसों में से सिर्फ़ 50 बसें चल रही हैं और बाकी बसें ड्राइवरों-कण्डक्टरों के अभाव में डीटीसी के डिपो में खड़ी हैं। लेकिन ड्राइवरों-कण्डक्टरों की नई भर्ती नहीं की जा रही है, जबकि प्राइवेट बसें भी कम पड़ती हैं।

यही नहीं, जिन रूटों पर ब्लू लाइन बसें अच्छा मुनाफ़ा कमा रही हैं उन बसों पर डीटीसी बसें या तो नदारद हैं या केवल एक-दो बसें हैं। इन रूटों पर डीटीसी बसें न होने कारण उनकी कमी नहीं बल्कि डीटीसी प्रबंधन व निजी बस मालिकों की सांठ-गांठ है। दूसरे सीएनजी की कीमत डीजल से आधी होने के बाद भी खर्च में कमी के बजाय बढ़ोत्तरी कैसे हो सकती है? यह तो या डीटीसी का प्रबंधन ही बता सकता है या फिर दिल्ली सरकार। लेकिन वे भला ये राज़ क्यों खोलेंगे? इसके लिए मेहनतकशों को ही आगे आकर आवाज़ उठानी होगी और लूट के इस पूरे गोरखधन्धे का भण्डाफोड़ करना होगा।

जानलेवा महँगाई ग़रीबों के जीने के अधिकार पर भी हमला है!

केंद्र सरकार देश भर में आतंकवाद, नक्सलवाद और माओवाद आदि का हव्वा खड़ा कर रही है लेकिन उससे बड़े संकट या यानि बेरोजगारी और महँगाई से फैलने वाली भूख और कुपोषण पर सरकार ही नहीं, बल्कि पूँजीपतियों के रहमोकरम पर पलने वाला मीडिया भी चुप्पी साधे हुए है। जबकि सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती महँगाई से बहुसंख्यक आबादी के सामने जीने का संकट उत्पन्न हो गया है। पिछले साल से अब तक खाद्य पदार्थ 70 प्रतिशत महंगे हो चुके है। छह महीने में ही खाने-पीने की चीज़ों के दामों में 15 फ़ीसदी की बढ़ोतरी हो चुकी है। और माना जा रहा है कि सूखे के चलते खाद्य-पदार्थों की की कीमतों में वृद्धि हो सकती है।

अब भले ही प्रधानमंत्री और वित्तमंत्री और योजना आयोग देश की अर्थव्यवस्था के जल्द ही पटरी पर आने का आश्वासन दे रहे हों और मुद्रास्फीति की दर शून्य से नीचे जा रही हो, लेकिन आम आदमी के लिए इन आश्वासनों और आँकड़ों का कोई मतलब नहीं है। उनके अनुभव और इन आश्वसनों तथा आँकड़ों में जमीन-आसमान का अंतर है। इस महँगाई ने देश की भारी आबादी के लिए हालात कितने मुश्किल कर दिये हैं इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए बस यह तथ्य याद कर लेना ज़रूरी है कि 84 करोड़ लोग सिर्फ 20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करते हैं। इनमें से भी लगभग एक तिहाई आबादी तो महज़ 11 रुपये रोज़ पर जीती है। इस महँगाई में यह आबादी किस तरह जी रही होगी इस भयावहता को केवल आंकड़ों आदि से बयान भी नहीं किया जा सकता है।

देश के 44 करोड़ असंगठित मज़दूरों पर महँगाई की मार सबसे बुरी तरह पड़ रही है। शहरों में करोड़ों मज़दूर उद्योगों में 1800 से 2500 रुपये मासिक की मज़दूरी पर काम कर रहे हैं। इसमें से भी मालिक बात-बात पर पैसे काट लेता है। लगभग एक तिहाई से लेकर आधी मज़दूरी मकान के किराये, बिजली, बस भाड़े आदि में चली जाती है। ज्यादातर मज़दूर इलाकों में मकानमालिक ही किराने आदि की दूकानें भी खोलकर बैठे रहते हैं और मज़दूरों को मनमानी कीमतों पर सामान बेचते हैं। ज्यादातर मज़दूर थोड़ा-थोड़ा सामान लेते हैं और उन्हें उधार खरीदना पड़ता है इसलिए वे उनसे ही खरीदने को मजबूर होते हैं। उन्हें खाद्य पदार्थों के सामान्य से अधिक दाम चुकाने पड़ते हैं।

"भीषण महँगाई के पहले ही देश की तीन चौथाई आबादी के भोजन में विटामिन और प्रोटीन जैसे जरूरी पौष्टिक तत्वों की लगातार कमी होती गयी है। आम आदमी के लिए प्रोटीन के मुख्य स्रोत दालों की कीमत में पिछले एक साल के अन्दर 110 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। कहा जाता था कि आलू भूख से लड़ने में ग़रीबों की मदद करता है। लेकिन इस वक़्त आलू के दाम भी उनकी पहुँच से बाहर हो गये हैं।"

ऐसी भीषण महँगाई के पहले ही देश की तीन चौथाई आबादी के भोजन में विटामिन और प्रोटीन जैसे जरूरी पौष्टिक तत्वों की लगातार कमी होती गयी है। आम आदमी के लिए प्रोटीन के मुख्य स्रोत दालों की कीमत में पिछले एक साल के अन्दर 110 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। कहा जाता था कि आलू भूख से लड़ने में ग़रीबों की मदद करता है। लेकिन इस वक़्त आलू के दाम भी उनकी क्रयशक्ति से बाहर हो गये हैं। हरी सब्जियाँ, दाल और दूध तो गरीब आदमी के भोजन से गायब ही चुके हैं। इसी का नतीजा है कि कुपोषण के कारण कम वजन वाले बच्चों की सबसे बड़ी संख्या भारत में है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक द्वारा किये गये एक अध्ययन से पता चला कि आज प्रति व्यक्ति औसत खाद्य उपलब्धता बंगाल में 1942-43 में आये भीषण अकाल के दिनों के बराबर पहुँच चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुतेरे परिवारों को दोनों वक्त या सप्ताह के सातों दिन खाना नहीं मिलता। आज भी लगभग नौ हजार बच्चे रोज कुपोषण और उससे होने वाली बीमारियों के कारण मर जाते हैं।

सवा सौ जिलों में सूखे के कारण बहुत बड़ी आबादी के सामने तो भुखमरी के हालात पैदा हो गये हैं। यह हालत केवल बारिश न होने के कारण नहीं हुई है जैसा कि सरकार बार-बार बताने की कोशिश कर रही है। इसके लिए व्यापारियों की मुनाफाखोरी की हवस और उसे शह देने वाली सरकारी नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं।

दरअसल कीमतें बढ़ने के लिए उत्पादन की कमी, मानसून आदि मुख्य कारण हैं ही नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में कीमतें बढ़ना भी इसका कारण नहीं है। अगर ऐसा होता तो गेहूँ और चावल की कीमतें अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में कम होने के बाद देश में इनकी कीमतें गिरनी चाहिए थीं। महँगाई की असली वजह यह है कि खेती की उपज के कारोबार पर बड़े व्यापारियों, सटोरियों और कालाबाज़ारियों का कब्ज़ा है। ये ही जिन्सों के दाम तय करते हैं और जानबूझकर बाज़ार में कमी पैदा करके चीज़ों के दाम बढ़ाते हैं। पिछले कुछ वर्षों में कृषि उपज और खुदरा कारोबार के क्षेत्र को बड़ी कम्पनियों के लिए खोल देने के सरकार के फैसले से स्थिति और बिगड़ गयी है। अपनी भारी पूँजी और ताक़त के बल पर ये कम्पनियाँ बाज़ार पर पूरा नियंत्रण कायम कर सकती हैं और मनमानी कीमतें तय कर सकती हैं।

सरकार ने वायदा कारोबार की छूट देकर व्यापारियों को जमाखोरी करने का अच्छा मौका दे दिया है। अब सरकार बेशर्मी से कह रही है कि जमाखोरों के कारण महँगाई बढ़ी है। लेकिन इन जमाखोरों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने के बजाय केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को कार्रवाई करने की नसीहत देकर खुद को बरी कर लेना चाहती है। लेकिन केन्द्र हो या राज्य सरकारें, जमाखोरी करने वाले व्यापारियों पर कोई हाथ नहीं डालना चाहता। हर पार्टी में इन व्यापारियों की दखल है और सभी पार्टियाँ इनसे करोड़ों रुपये का चन्दा लेती हैं। पिछले चुनावों में इन मुनाफ़खोरों ने अरबों रुपये का चन्दा पार्टियों को दे दिया था।

पूँजीवादी नीतियों के कारण अनाजों के उत्पादन में कमी आती जा रही है। भारत ही नहीं, पूरी दुनिया में आज खेती संकट में है। पूँजीवाद में उद्योग के मुकाबले खेती का पिछड़ना तो लाज़िमी ही होता है लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियों ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया है। अमीर देशों की सरकारें अपने फार्मरों को भारी सब्सिडी देकर खेती को मुनाफ़े का सौदा बनाये हुए हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में सरकारी उपेक्षा और पूँजी की मार ने छोटे और मझोले किसानों की कमर तोड़ दी है। इसका सीधा असर उन देशों में खाद्यान्न उत्पादन पर पड़ रहा है।

वैश्विक पैमाने पर खेती का कारोबार चन्द दैत्याकार कम्पनियों के कब्जे में आ चुका है जो खाद-बीज-कीटनाशक और मशीनों जैसे खेती के साधनों से लेकर फसलों के व्यापार तक को नियन्त्रित करती हैं। यही कम्पनियाँ इथेनॉल के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए सरकारी सब्सिडी का भी फ़ायदा उठा रही हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है कि खाद्यान्न की खेती के लिए तय ज़मीनों का इस्तेमाल अमीरों की कारें दौड़ाने के लिए इथेनॉल के उत्पादन में किया जा रहा है।

सबसे बड़ा कारण यह है कि मेहनतकश जनता की मज़दूरी में लगातार आ रही गिरावट के कारण उसकी खरीदने की शक्ति कम होती जा रही है। देश की अर्थव्यवस्था जब चमक रही थी तब भी आम मेहनतकश आबादी की वास्तविक आमदनी में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई थी।

भारी अर्द्धसर्वहारा आबादी और निम्नमध्यवर्गीय आबादी को भी पेट भरने के लिए अपनी ज़रूरतों में कटौती करनी पड़ रही है। बहुत बड़ी आबादी छँटनी, वेतन में कटौती और बेरोज़गारी के कारण तबाही के कगार पर है लेकिन इस आबादी के लिए सरकार के पास कोई राहत योजना नहीं है।

हाल में देश के कई शहरों में किये गये एक सर्वेक्षण में लोगों ने अपने लिये सबसे बड़ा खतरा महँगाई को बताया था। उनकी नज़र में ख़तरों की लिस्ट में आतंकवाद आठवें नंबर पर था। अम्बाला में एक नागरिक ने कहा कि देश की सुरक्षा को खतरा आतंकवाद से नहीं आलू से है। जब आलू 25 रुपये किलो बिकेगा तो लोग आतंकवादी नहीं बनेंगे तो क्या करेंगे? थैलीशाहों की सेवा में लगे देश के हुक्मरानों को तो यह जानलेवा महँगाई कोई समस्या नज़र नहीं आती लेकिन ग़रीबों के भीतर सुलगती गुस्से की आग को अब ज़्यादा दिनों तक दबाये नहीं रखा जा सकता।

एक युद्ध जनता के विरुद्ध ...

(पेज 1 से आगे)

के बजाय असेम्बली को ही भंग करके मणिपुर को एक चीफ़ कमिश्नर के शासनाधीन रख दिया गया। तब से मणिपुर में बहुत सारे बदलाव हुए, लेकिन जनता 1949 की घटनाओं को विश्वासघात मानती रही और प्रतिरोध संघर्ष लगातार जारी रहा। सेना और ए.एफ.एस.पी.ए. जैसे काले क़ानूनों के बल पर उसे जितना दबाया गया, अलगाव और प्रतिरोध की भावना उतनी ही बढ़ती चली गयी।

भारत-बर्मा सीमा क्षेत्र में फैली नगा पहाड़ियों के निवासी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही नगा राष्ट्रीय परिषद (एन.एन.सी.) के बैनर तले एक साझा मातृभूमि और स्वशासन की माँग को लेकर लड़ते रहे हैं। 1929 में उन्होंने अपनी यह माँग साइमन कमीशन के सामने रखी थी। गाँधीजी ने भी उनकी आज़ादी की माँग का समर्थन किया था। ब्रिटिश प्रशासन और एन.एन.सी. के बीच हुए हैदरी समझौते के मुताबिक नगालैण्ड को दस वर्ष के लिए संरक्षित दर्जा प्रदान किया गया था, लेकिन इसी बीच भारत स्वतन्त्र हुआ और नगा क्षेत्र को नये गणराज्य का हिस्सा बना लिया गया। एन.एन.सी. 1975 तक नगालैण्ड की आज़ादी के लिए लड़ता रहा। 1975 में उसने जब शिलांग समझौते पर हस्ताक्षर किये, तो उसे ग़द्दार मानते हुए अन्य नगा नेताओं ने 'नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ़ नगालैण्ड (एन.एस.सी.एन.) के बैनर तले संघर्ष जारी रखा। इन दिनों एन.एस.सी.एन. के दो गुट हैं जिनके साथ फिलहाल भारत सरकार ने युद्ध विराम सन्धि कर रखी है।

1960 के दशक में असम की लुशाई पहाड़ियों में भीषण अकाल पड़ा था। वहाँ गठित एक राहत टीम द्वारा बार-बार अपील के बावजूद केन्द्र से राहत के नाम पर बस कुछ भीख के दाने ही मिले। इसी राहत टीम ने स्वयं को 'मिज़ो राष्ट्रीय मोर्चा' (एम.एन.एफ़.) घोषित कर दिया और मिज़ोरम की मुक्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष की घोषणा कर दी। फरवरी 1966 में एम.एन.एफ. ने आइज़ोल शहर पर कब्ज़ा कर लिया था। तब पहली बार भारतीय सेना ने अपने ही नागरिकों पर बमबारी की थी और हफ़्ते भर की लड़ाई के बाद आइज़ोल को फिर से कब्ज़े में लिया जा सका था। भारतीय सेनाओं ने जनविद्रोह को काबू में रखने के लिए पूरी आबादी को उजाड़कर सड़कों के किनारे अलग गाँव बसाये। इससे मिज़ो समाज का ढाँचा हमेशा के लिए तबाह हो गया। 1986 में एम.एन.एफ. ने भारत सरकार के साथ समझौता करके भारतीय संविधान के दायरे के भीतर काम करना स्वीकार कर लिया, लेकिन मिज़ो जनता के भीतर अलगाव, दिल्ली की सत्ता से घृणा और प्रतिरोध की भावना आज भी बरक़रार है।

आज भी पूर्वोत्तर की व्यापक आबादी भारतीय समाज के पूँजीवादी विकास की मुख्य धारा से अपने को उपेक्षित, अलग-थलग और उत्पीड़ित महसूस करती है। इसका एक ऐतिहासिक कारण भारतीय संघ में उनका बलात मिलाया जाना था, जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है। लेकिन इसका एक अहम कारण पूँजीवादी राज्य और समाज से जुड़ा संरचनागत कारण है। पूँजीवादी विकास की यह प्रकृति है कि वह क्षेत्रीय असमानता पैदा करती है। इसी की एक अभिव्यक्ति कुछ उपेक्षित राष्ट्रीयताओं के आर्थिक रूप से पीछे छूटते जाने तथा राजनीतिक-सामाजिक रूप से दोयम दर्जे पर बने रहने के रूप में सामने आती है। केन्द्रीय सत्ता या वर्चस्वशाली राष्ट्रीयता प्रायः उनकी आकांक्षाओं को कुचलने का काम करती है और इस तरह प्रायः बहुराष्ट्रीय पूँजीवादी देश कुछ राष्ट्रीयताओं के लिए जेलख़ाने बनकर रह जाते हैं।

पूर्वोत्तर के राज्यों की जनता के साथ ऐसा ही हुआ। समृद्ध खनिज सम्पदा (असम कुल देश के एक चौथाई तेल का उत्पादन करता है) और वन उपज के बावजूद इस क्षेत्र के विकास पर बहुत कम ध्यान दिया गया। पर्याप्त सम्भावना होते हुए भी, न औद्योगिक विकास हुआ, न कृषि का और न ही अवरचनागत ढाँचे का विकास हुआ। सिर्फ कच्चे माल का दोहन होता रहा। सांस्कृतिक अलगाव और उत्पीड़न का भी पहलू महत्वपूर्ण था। कालान्तर में इस क्षेत्र में एक बेहद भ्रष्ट मध्यवर्ग पैदा हुआ जो शासन-प्रशासन के कार्यों से जुड़ा था। बाद में केन्द्र की सत्ता ने विकास कार्यों के लिए कुछ पैसे लगाकर जन-तुष्टीकरण की यदि कुछ कोशिशें भी कीं, तो वह पैसा सत्ता से नाभिनालबद्ध भ्रष्ट स्थानीय मध्यवर्ग की जेबों में ही अटककर रह जाता था (आज भी यही स्थिति है)। पूँजीवादी विकास के साथ देशव्यापी स्तर पर होने वाले आबादी के 'माइग्रेशन' (प्रवासन) ने भी समस्या बढ़ायी। असम में युवाओं में भारी बेरोज़गारी थी, पर वहाँ बिहार-उ.प्र. और बांग्लादेश से आये ग़रीब लोग सस्ती मज़दूरी करते हुए उनके सामने उपस्थित समस्या को और गम्भीर बना रहे थे। असम आन्दोलन इसी ज़मीन पर पैदा हुआ था। बाद में असम गण परिषद जब भ्रष्ट चुनावी राजनीति के रंग में रंग गया, तो 'उल्फा' ने उग्र असन्तोष को अलगाव के लिए सशस्त्र संघर्ष का रूप दे दिया। बेरोज़गारी, प्रवासन और क्षेत्रीय असमानता का मूल कारण पूँजीवादी सत्ता और उसकी नीतियाँ होती हैं, लेकिन 'उल्फा' ने इसके बजाय अन्य इलाकों से आकर मेहनत-मज़दूरी करने वाले आम लोगों को ही निशाना बनाना शुरू कर दिया और लक्ष्यच्युत होकर एक आतंकवादी संगठन बन गया। कालान्तर में पूर्वोत्तर की नगा, कुकी, मैती आदि विभिन्न राष्ट्रीयताओं-उपराष्ट्रीयताओं के आपसी अन्तरविरोध भी उग्र हो गये। जब मूल समस्या का समाधान नहीं होता है, तो लाज़िमी तौर पर तमाम गौण अन्तरविरोध भी उग्र हो जाते हैं। केन्द्रीय सत्ता ने भी इन अन्तरविरोधों को उग्र बनाने में अहम भूमिका निभाई है। लेकिन इन सबके बीच, सर्वप्रमुख बात यह है कि पूर्वोत्तर की जनता का अलगाव आज भी क़ायम है। भारतीय शासक वर्ग के उत्पीड़क रवैये ने आज़ादी और आत्मनिर्णय की उनकी आकांक्षा को लगातार ज़िन्दा रखा है। आज की दुनिया में, एक शक्तिशाली पूँजीवादी केन्द्र से यदि वे मुक्त न हो सकें, तो भी उनका संघर्ष जारी रहेगा। उसे कुचलना सम्भव नहीं।

जम्मू-कश्मीर में ए.एफ.एस.पी.ए. 1990 में लागू हुआ। यहाँ संक्षेप में वहाँ की स्थिति को भी जानना ज़रूरी है। औपनिवेशिक काल के दौरान कश्मीर डोगरा वंश के शासन के अधीन एक रियासत थी। शेख़ अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कान्फ्रेंस ने वहाँ औपनिवेशिक सरपरस्ती वाले डोगरा शासन के विरुद्ध और भूमि सुधारों के लिए रैडिकल किसान संघर्ष और जनान्दोलन संगठित किया था। सेक्युलर विचारों वाली नेशनल कान्फ्रेंस तब मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति की विरोधी थी और इस नाते वह पाकिस्तान में कश्मीर के शामिल होने की विरोधी थी। डोगरा राजा हरिसिंह तब दोहरी चाल चल रहा था और एक आज़ाद रियासत का राजा बनना चाहता था। नेशनल कान्फ्रेंस का झुकाव भारतीय संघ में शामिल होने की ओर था, पर वह कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार की पक्षधर थी और कश्मीर के भीतर स्वशासन का विशेष अधिकार चाहती थी। अक्टूबर '47 में पाकिस्तानी क़बायली घुसपैठ के विरुद्ध राजा हरिसिंह ने भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड माउण्टबेटन से मदद की अपील की। बदले में, 26 अक्टूबर '47 को उसने भारत के साथ विलय के समझौते पर हस्ताक्षर किये। लेकिन कश्मीर को एक विशेष दर्जा दिया गया। उसका अलग संविधान था, जिसके तहत 30 अक्टूबर '48 को गठित आपातकालीन सरकार में वज़ीर-ए-आज़म (प्रधानमन्त्री) शेख अब्दुल्ला को बनाया गया और राजा को सद्र-ए-रियासत का पद दिया गया। भारत सरकार ने न केवल कश्मीर के विशेष दर्जे को स्वीकार किया था बल्कि स्थिति सामान्य होने पर जनमतसंग्रह के ज़रिए कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को लागू करने की भी बात की थी। शेख़ अब्दुल्ला ने जम्मू-कश्मीर में सर्वाधिक आमूलगामी ढंग से भूमि सुधार कार्यक्रम लागू करके काफ़ी लोकप्रियता हासिल की थी। लेकिन स्वायत्तता के प्रश्न पर अविचल स्टैण्ड के कारण 1953 में उनकी सरकार को बर्ख़ास्त करके ग्यारह साल के लिए उन्हें जेल में डाल दिया गया। 1957 में एकदम एकतरफ़ा ढंग से कश्मीर के भारत में औपचारिक विलय की घोषणा कर दी गयी। अप्रैल '64 में नेहरू से बातचीत के बाद गतिरोध तोड़ने के लिए एक बार फिर कोशिश हुई और शेख़ अब्दुल्ला की रिहाई हुई। लेकिन 1965 में फिर उन्हें नज़रबन्द कर दिया गया, जो 1968 तक जारी रहा। 1971 में जनमतसंग्रह मोर्चा को प्रतिबन्धित कर दिया गया और 18 माह के लिए शेख़ अब्दुल्ला को कश्मीर से निर्वासित कर दिया। 1974 में इन्दिरा गाँधी के साथ समझौते के बाद शेख़ अब्दुल्ला अपनी सभी माँगों से पीछे हट गये। वे तब से लेकर 1982 में अपनी मृत्यु तक कश्मीर के मुख्यमन्त्री रहे।

कश्मीर की जनता ने 1948 से लेकर 1957 में कश्मीर के एकतरफ़ा विलय की घोषणा और 1953 से लेकर 1971 तक शेख़ अब्दुल्ला के साथ हुए व्यवहार को अपने साथ विश्वासघात के रूप में देखा। 1974 के समझौते को भी आबादी के बड़े हिस्से ने शेख़ अब्दुल्ला के घुटने टेकने के रूप में देखा। 1982 के बाद कश्मीरी जनता का पहले से ही क़ायम अलगाव और तेज़ी से बढ़ा और 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में जे.के.एल.एफ. के नेतृत्व में कश्मीर की आज़ादी के लिए सशस्त्र संघर्ष फूट पड़ा। जे.के.एल.एफ. भारतीय भाग के अतिरिक्त पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में भी सक्रिय व्यापक जनाधार और सेक्युलर विचारों वाला संगठन था, जिसे दोनों ही देशों में दमन का सामना करना पड़ा। घाटी में सशस्त्र संघर्ष के साथ ही व्यापक जनान्दोलन की स्थिति थी, जिसे भारतीय शासक वर्ग ने बल के व्यापक और बर्बर इस्तेमाल के द्वारा कुचलने की कोशिश की। 1990 में वहाँ ए.एफ.एस.पी.ए. लागू होने के बाद सेना को दमन के अपरिमित अधिकार मिल गये। ऐसी स्थिति में कश्मीरी जनता में अलगाव की भावना ज़्यादा से ज़्यादा मज़बूत होती चली गयी। जे.के.एल.एफ. और जनान्दोलन के सैनिक दमन से पैदा हुई निराशा-निरुपायता की ज़मीन पर उन धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवादी संगठनों को भी जड़ें जमाने का मौका मिला, जिन्हें पाकिस्तानी शासक वर्ग अपने निहित स्वार्थों से समर्थन-प्रोत्साहन दे रहा था। ये ग्रुप धार्मिक आधार पर कश्मीर के पाकिस्तान में विलय की बात करते हैं। कश्मीर में साम्प्रदायिक राजनीति का ऐतिहासिक तौर पर कोई आधार नहीं रहा है। भारतीय सेना के दमन से पैदा हुए नैराश्यपूर्ण अलगाव ने वहाँ धार्मिक कट्टरपन्थ के लिए ज़मीन तैयार की है।

भारत में इन राष्ट्रीयताओं के संघर्ष की समस्या एक जटिल समस्या है। एक पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर इसका समाधान मुश्किल है। राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार की यह लड़ाई सैन्य दमन से समाप्त नहीं हो सकती। पूर्वोत्तर भारत में 51 वर्षों से और जम्मू-कश्मीर में 19 वर्षों से ए.एफ.सी.पी.ए. के अन्तर्गत वस्तुतः सेना का शासन जारी है, लेकिन इससे समस्या हल होने के बजाय और अधिक गम्भीर ही हुई है। और अब यदि शासक वर्ग किसी भी रूप में इस क़ानून को पूरे देश में लागू करना चाहता है, तो जाहिर है कि व्यवस्था का संकट काफ़ी गम्भीर शक़्ल अख़्तियार कर चुका है।

जीना मुहाल करने वाली उदारवादी आर्थिक नीतियों के ख़िलाफ़ आम जनता के व्यापक विस्फोट की सम्भावनाओं से भयातुर शासक वर्ग उतारने लगा है लोकतंत्र की रामनामी चादर, अब तैयारी है जिरहबख़्तर पहनने की, बघनखे और खूनी खंजर से लैस होने की!

ए.एफ.सी.पी.ए. : नग्न-निरंकुश दमनतन्त्र का सबसे प्रभावी हथियार!

सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून के मुताबिक, जब कोई क्षेत्र अशान्त (डिस्टर्ब्ड) घोषित कर दिया जाता है, तो वहाँ एकदम निर्बाध कार्रवाई चलाने के लिए सभी सुरक्षा बलों को (जिनमें सेना की भूमिका सर्वप्रमुख होती है), बेहिसाब अधिकार हासिल हो जाते हैं। इसके अनुसार, सेना के एक नॉन-कमीशण्ड ऑफ़िसर को भी यह अधिकार होता है कि वह "क़ानून व्यवस्था बनाये रखने के लिए" महज़ सन्देह के आधार पर किसी को गोली मार देने का निर्देश दे दे। ए.एफ.सी.पी.ए. "नागरिक शासन की सहायता" के नाम पर सशस्त्र बलों को बिना किसी वारण्ट के तलाशी, पूछताछ, गिरफ़्तारी और गोली मार देने तक के व्यापक अधिकार देता है।

इस क़ानून के अनुच्छेद-5 के अनुसार, सेना यदि अशान्त क्षेत्र में किसी व्यक्ति को गिरफ़्तार करती है तो उसे "यथाशीघ्र" नज़दीक के पुलिस स्टेशन को सौंप देगी। लेकिन इस "यथाशीघ्र" को अस्पष्ट और अपरिभाषित रहने दिया गया है।

क़ानून के अनुच्छेद-6 के अनुसार, ए.एफ.सी.पी.ए. के अन्तर्गत काम कर रही सेना के किसी भी व्यक्ति पर केन्द्र सरकार की अनुमति के बग़ैर कोई क़ानूनी कार्रवाई नहीं हो सकती। यानी वह क़ानून किसी भी प्रभावित व्यक्ति को क़ानूनी राहत का कोई विकल्प नहीं देता।

1991 में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार कमेटी के सदस्यों ने जब ए.एफ.सी.पी.ए. की वैधता पर सवाल उठाये तो भारत के महाधिवक्ता का एकमात्र तर्क यह था कि पूर्वोत्तर के राज्यों के अलग होने को रोकने लिए यह क़ानून लागू करना ज़रूरी था, क्योंकि भारतीय संविधान की धारा-355 राज्यों को आन्तरिक अशान्ति से बचाने की ज़िम्मेदारी केन्द्र सरकार को सौंपती है। इस तर्क की पहली विसंगति यह है कि यदि किसी राज्य की बहुसंख्यक आबादी आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए आन्दोलन करती है तो क्या इसे आन्तरिक अशान्ति कहा जा सकता है? दूसरी बात यह कि राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को बुर्जुआ जनवाद के आम उसूल और भारतीय संविधान भी किसी नागरिक के मूलभूत अधिकारों के ऊपर नहीं रखते। राज्य के हित में केन्द्र सरकार को कोई ऐसा क़ानून बनाने का कत्तई अधिकार नहीं है, जो नागरिक के जीने का अधिकार भी छीन ले।

ए.एफ.सी.पी.ए. भारतीय संविधान की

(पेज 5 पर जारी)

एक युद्ध जनता के विरुद्ध ...

(पेज 4 से आगे)

धारा-21 का खुला उल्लंघन है जो बताता है कि किसी भी व्यक्ति को उसके जीने के अधिकार या व्यक्तिगत आज़ादी से वंचित नहीं किया जा सकता और ऐसा केवल क़ानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जा सकता है। साथ ही यह क़ानून गिरफ़्तारी और हिरासत के विरुद्ध नागरिक को क़ानूनी सुरक्षा का अधिकार देने वाली संविधान की धारा-22 का भी खुला उल्लंघन करता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि ए.एफ.सी.पी.ए. को असंवैधानिक घोषित करने का काम केवल उच्चतम न्यायालय ही कर सकता है और उसके सामने इससे सम्बन्धित कई मामले बरसों से लम्बित पड़े हैं, लेकिन उन पर कोई निर्णय नहीं हो रहा है।

और अब यदि सरकार इस काले क़ानून को पूरे देश में लागू करने के लिए हर तरह की प्रक्रियागत तैयारी कर लेना चाहती है तो इसका मतलब यह है कि शासक वर्ग आने वाले दिनों में व्यवस्था के लिए गम्भीर संकट देख रहा है और उससे निपटने के लिए वह किसी भी हद तक जाने को तैयार है। वह लोकतन्त्र का लबादा उतारकर तानाशाही का जिरहबख़्तर पहनने के लिए भी तैयार है और समूची जनता के ख़िलाफ़ एक ख़ूनी युद्ध छेड़ देने के लिए भी तैयार है। वैसे आज की ही स्थिति यह है कि देश के कुल सशस्त्र बलों का पचास प्रतिशत से भी अधिक हिस्सा "आन्तरिक सुरक्षा" के कामों में देश के भीतर ही लगा हुआ है। यानी शासक वर्ग को ख़तरा सीमा पार से नहीं, बल्कि देश के भीतर से है, अपनी जनता से है, उस जनता से, जो साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लूट से तबाह है, मँहगाई-बेरोज़गारी ने जिसका जीना मुहाल कर रखा है, नेताशाही-नौकरशाही के भ्रष्टाचार से जो आजिज आ चुकी है, जिसे कहीं से भी न्याय नहीं मिल रहा है और इंसाफ़ और हक़ के लिए आवाज़ उठाने पर जिसे बस लाठी-गोली-जेल ही मिलती है।

वैसे देखा जाये तो यह शासक वर्गों की भयातुरता ही है कि वे ज़रूरत पड़ने पर पूरे देश में सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून लागू करने का विकल्प पहले से ही आरक्षित कर लेना चाहते हैं, हालाँकि यह क़ानून देश के जिन क्षेत्रों में लागू है वहाँ के उल्टे नतीजे उनके सामने हैं। शासक वर्गों के पास आन्तरिक आपातकाल लागू करने का संवैधानिक प्रावधान भी मौजूद है। लेकिन सच पूछा जाये तो इसकी भी कोई ज़रूरत नहीं है। सरकारें पहले भी समय-समय पर रासुका, टाडा, पोटा जैसे काले क़ानून बनाती रही हैं, जिनके अमल में आने का मतलब ही होता है नागरिकों के सभी जनवादी अधिकारों का पूर्ण अपहरण। इनके अतिरिक्त 'डिस्टर्ब्ड एरियाज़ (स्पेशल कोर्ट्स) एक्ट, 1976 आदि, और राज्यों के स्तर पर 'छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा अधिनियम' और 'मकोका' आदि जैसे बहुतेरे निरंकुश काले क़ानून पहले से ही मौजूद हैं।

इससे भी अहम बात यह है कि जनान्दोलनों के दमन के लिए सशस्त्र बलों को वैसे भी किसी क़ानून की ज़रूरत नहीं पड़ती रही है। हिरासत में यन्त्रणा और हत्या तथा फ़र्ज़ी मुठभेड़ों के दोषी पुलिस अधिकारियों को अपवादस्वरूप ही क़ानूनी कार्रवाई का सामना करना पड़ता है। लाठीचार्ज से लेकर गोलीकाण्ड तक के दोषी अधिकारियों को कभी कोई सज़ा नहीं होती। जिला से लेकर थाने के स्तर तक पुलिस और अन्य अधिकारियों के लिए क़ानून का कोई मतलब नहीं होता।

दरअसल, देश के किसी भी हिस्से में सेना को विशेष अधिकार सौंपना सत्ताधिकारियों के भय और बौखलाहट का सूचक है, अन्यथा जनसंघर्षों और सशस्त्र विद्रोहों तक का सामना करने के लिए बी.एस.एफ़., सी.आर.पी.एफ़., आई.टी.बी.पी., एस.पी.जी., एन.एस.जी., और राज्यों के सशस्त्र पुलिस बलों की विशेष प्रशिक्षित बटालियनें पूरी तरह से तैयार हैं। कोबरा बटालियन की तरह कई राज्यों ने और आई.टी.बी.पी. आदि ने छापामार युद्ध विरोधी और सशस्त्र विद्रोह विरोधी प्रशिक्षण देकर जो विशेष दस्ते तैयार किये हैं उनके प्रशिक्षण और आधुनिक हथियारों का स्तर सेना के समकक्ष है।

जनता के विरुद्ध शासक वर्ग ख़ूनी युद्ध की शुरुआत कर चुका है!

'बिगुल' के पिछले अंक में हमने यह लिखा था कि महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, प. बंगाल, झारखण्ड और बिहार की परस्पर लगी सीमाओं से जुड़े एक विस्तृत क्षेत्र में भा.क.पा. (माओवादी) की सशस्त्र कार्रवाइयों को कुचलने के लिए विशेष प्रशिक्षित सशस्त्र बलों की उतनी बड़ी लामबन्दी हो चुकी है, जैसी, पूर्वोत्तर भारत और जम्मू-कश्मीर को छोड़कर, शेष भारत में पिछले साठ वर्षों में कभी नहीं हुई थी। एक ख़ूनी अभियान शुरू करने से पहले सरकार हरियाणा, महाराष्ट्र, अरुणाचल के विधानसभा चुनावों के निपटने का इन्तज़ार कर रही थी।

चुनाव अब समाप्त हो चुके हैं और 'ऑपरेशन रेड ब्लड' नाम से अभियान की शुरुआत हो चुकी है। मध्य भारत के उपरोक्त राज्यों के "नक्सल-प्रभावित" क्षेत्रों में, पहले से मौजूद अर्द्धसैनिक बलों और सशस्त्र पुलिस के अतिरिक्त भारत-तिब्बत सीमा पुलिस (आई.टी.बी.पी.), सीमा सुरक्षा बल (बी.एस.एफ़.), केन्द्रीय आरक्षित पुलिस बल (सी.आर.पी.एफ़.) आदि के एक लाख विशेष प्रशिक्षित जवानों को इस मुहिम में लगाया गया है। जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत से अर्द्धसैनिक बलों को हटाकर इन क्षेत्रों में लाया जा रहा है। जल्दी ही 'राष्ट्रीय राइफ़ल्स' की टुकड़ियों को भी इस अभियान में शामिल किया जायेगा, जिन्हें सेना की देखरेख में 'काउण्टर इन्सर्जेंसी' की ट्रेनिंग दी गयी है। इस अभियान के लिए अतिउन्नत हथियारों, बख़्तरबन्द गाड़ियों आदि की बड़े पैमाने पर ख़रीदारी हुई है।

'ऑपरेशन रेड ब्लड' को कई चरणों में बाँटा गया है। पहले चरण की शुरुआत महाराष्ट्र के गढ़चिरौली क्षेत्र से हुई है। अगले चरण छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड और फिर पश्चिम बंगाल, आन्ध्रप्रदेश पर केन्द्रित होंगे। वायुसेना के 17 ए.आई. हेलीकॉप्टर पहले चरण में ज़मीनी अभियान की मदद करेंगे। यह बताने की ज़रूरत नहीं कि इसके पहले महीनों से किस तरह "माओवादी ख़तरे के चलते आन्तरिक सुरक्षा माहौल के बिगड़ने" और "आन्तरिक सुरक्षा के लिए माओवाद सबसे बड़ा ख़तरा" होने का उन्मादी प्रचार किया गया। मनमोहन सिंह और चिदम्बरम ने दर्जनों ऐसे बयान दिये। टी.वी. चैनलों और अख़बारों ने माओवादियों की "ख़ूनी आतंकवादी" हरक़तों के बारे में लगातार विशेष रिपोर्टें प्रसारित कीं और छापीं। स्वयंभू रक्षा-विशेषज्ञों ने साक्षात्कार दिये और बहसों में भाग लिया। और "उचित निर्णायक कार्रवाई" के लिए जनमत की सहमति "निर्मित" कर ली गयी। लेकिन फिर भी यह प्रश्न हर विवेकशील नागरिक के दिलो-दिमाग़ को मथता है कि **आखिर यह स्थिति क्यों पैदा हुई कि राज्यसत्ता को अपने ही देश की सर्वाधिक ग़रीब, पिछड़ी और उत्पीड़ित आबादी के विरुद्ध, एक युद्ध छेड़ना पड़ रहा है?**

भा.क.पा. (माओवादी) के सघन प्रभाव का इलाका देश का सबसे पिछड़ा और ग़रीब इलाका है, जहाँ मुख्यत: आदिवासी आबादी रहती है। आबादी के इस सबसे पिछड़े और उत्पीड़ित-वंचित हिस्से में भा.क.पा. (माओवादी) के सशस्त्र विद्रोह की लाइन के व्यापक प्रभाव का सर्वोपरि कारण यह रहा है कि स्वतन्त्र भारत में पूँजीवादी विकास की लहर से ये इलाके पूर्वोत्तर भारत की राष्ट्रीयताओं के इलाकों के मुक़ाबले भी अधिक अछूते रहे हैं। नागरिक प्रशासन और सार्वजनिक सुविधाएँ यहाँ बरायनाम ही रही हैं। ठेकेदारों, भूस्वामियों और अफसरों का उत्पीड़न यहाँ वैसा ही रहा है, जैसा अंग्रेज़ों के ज़माने में था। मध्य और पूर्वी भारत का यह इलाका खनिज सम्पदा की दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध है। गत शताब्दी के साठ और सत्तर के दशक में इस सम्पदा का दोहन करने के लिए इन क्षेत्रों में पब्लिक सेक्टर के कुछ कारख़ाने लगे। इससे यहाँ के मूल निवासियों का एक हिस्सा विस्थापित हुआ। साथ ही, नये बसे औद्योगिक नगरों के जीवन और आधुनिक सार्वजनिक सुविधाओं से वंचित रहने का असन्तोष और अलगाव की भावना उनके भीतर गहराती गयी। विगत लगभग दो दशकों के दौरान स्थिति में कुछ और व्यापक और बुनियादी बदलाव आये हैं। इस इलाके की अकूत अनछुई खनिज सम्पदा की ओर, देशी और विदेशी पूँजी का ध्यान तेजी से आकृष्ट हुआ है। पास्को, टाटा, जिन्दल, मित्तल सभी टूट पड़े हैं। समय उदारीकरण-निजीकरण का है। सरकार भी यह सारी सम्पदा लूटने के लिए खदानें और कारख़ाने लगाने के लिए ज़मीन उन्हें देने के लिए तैयार बैठी है। समस्या केवल एक है और वह यह है कि इसके लिए करोड़ों आदिवासी जन समुदाय को उनकी जगह-जमीन से उजाड़ना होगा।

पूँजीवादी विकास वाली खेती के इलाकों से, पूँजी की मार से उजड़ने वाले किसान जितनी आसानी से शहरों में आकर औद्योगिक सर्वहारा बन जाते हैं, आदिवासी आबादी के लिए यह इतना सुगम नहीं होता। वे अपनी जगहों से विस्थापित भी होते हैं तो भवन-निर्माण, ईंट-भट्ठे जैसे कामों में निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलाम ही बन पाते हैं। सांस्कृतिक-सामाजिक ढाँचे की दृष्टि से भी, अचानक अपनी जड़ों से विस्थापित होकर नये परिवेश में व्यवस्थित होने के लिए उनकी चेतना तैयार नहीं होती। इसलिए, यह आबादी साझा सामाजिक सम्पदा, जंगल, चरागाहों, जलस्रोतों और खेतीबाड़ी से बलात विच्छिन्न किये जाने की कोशिशों का जीजान से विरोध कर रही है। अभी एक महीने पहले ही अर्द्धसैनिक बलों, पुलिस बलों और गुप्तचर एजेंसियों के शीर्ष अधिकारियों को सम्बोधित करते हुए मनमोहन सिंह ने कहा था कि आदिवासी आबादी के इलाकों में व्यापक प्रतिरोध के कारण खनिज सम्पदा का दोहन नहीं हो पा रहा है और विदेशी निवेश पर गम्भीर असर पड़ रहा है।

संविधान की पाँचवीं अनुसूची आदिवासियों को उनकी परम्परागत ज़मीन और जंगलों पर पूरे अधिकार की गारण्टी देती है और निजी कम्पनियों को उनकी ज़मीन पर खदानें खोदने से रोकती है। अब मनमोहन सरकार ने इसका आसान रास्ता निकाल लिया है। माओवादियों से लड़ने के नाम पर, वह पूरे इलाके की आदिवासी आबादी को ही उजाड़कर राहत शिविरों में बसा देना चाहती है, ताकि उनके जंगल और ज़मीन को देशी बड़े पूँजीपति घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सुपुर्द किया जा सके। नियमगिरि में बहुराष्ट्रीय कम्पनी वेदान्त को, जगसिंहपुरा में पास्को को और कलिंगनगर में टाटा को खदान और कारख़ाने के लिए ज़मीन देने के लिए यही किया गया। लाखों आदिवासी परिवारों को उजाड़ दिया गया और उन्हें जीने का कोई विकल्प नहीं दिया गया। प्रश्न यहाँ माओवादियों या आदिवासियों के सशस्त्र प्रतिरोध को कुचलने मात्र का ही नहीं है। देश में जहाँ भी किसी सेज़ या औद्योगिक पार्क की स्थापना के लिए या किसी एक्सप्रेस हाईवे के निर्माण के लिए लोगों को उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़ा गया, वहाँ विस्थापितों के शान्तिपूर्ण आन्दोलनों-संघर्षों को भी सत्ता ने उतनी ही बेरहमी से बलपूर्वक कुचला है।

प्रश्न यहाँ निरपेक्ष रूप से औद्योगिक विकास का विरोध करने का नहीं है। लेकिन कारख़ाना लगने से विस्थापित लोगों को जीने के वैकल्पिक साधन और आत्मिक विकास का सामाजिक परिवेश मुहैया कराना सत्ता की ज़िम्मेदारी है। दूसरी बात, पर्यावरण-सन्तुलन को दरकिनार करके औद्योगिक विकास की बात सोचना वस्तुत: विनाशकारी होगा। लेकिन उत्पादन जब तक मुनाफ़े के लिए होगा, तब तक ऐसा ही होता रहेगा। इसलिए मौजूदा जन-प्रतिरोध भी व्यापक अर्थों में पूँजीवादी व्यवस्था-विरोधी संघर्ष ही है, विकास के वैकल्पिक मार्ग – समाजवादी मार्ग के लिए ही संघर्ष है, भले ही इसकी दिशा स्पष्ट न हो।

वैसे आज की ही स्थिति यह है कि देश के कुल सशस्त्र बलों को पचास प्रतिशत से भी अधिक हिस्सा "आन्तरिक सुरक्षा" के कामों में देश के भीतर ही लगा हुआ है। यानी शासक वर्ग को खतरा सीमा पार से नहीं, बल्कि देश के भीतर से है, अपनी जनता से है, उस जनता से, जो साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लूट से तबाह है, मँहगाई-बेरोज़गारी ने जिसका जीना मुहाल कर रखा है, नेताशाही-नौकरशाही के भ्रष्टाचार से जो आजिज़ आ चुकी है, जिसे कहीं से भी न्याय नहीं मिल रहा है और इंसाफ़ और हक़ के लिए आवाज़ उठाने पर जिसे बस लाठी-गोली-जेल ही मिलती है।

सिर चढ़कर बोल पड़ा सच्चाई का भूत!

यह सच है कि सच्चाई का भूत कभी-कभी हुकूमती जमातों के सिर पर भी चढ़कर बोलने लगता है। 31 अक्टूबर '09 के **हिन्दुस्तान टाइम्स** (दिल्ली संस्करण, पृ. 10) में कोने में प्रकाशित एक छोटे से समाचार के अनुसार, भूमि सुधार विषयक एक पन्द्रह सदस्यीय सरकारी कमेटी (कमेटी ऑन स्टेट एग्रेरियन रिलेशंस एण्ड अनफ़िनिश्ड टास्क ऑफ लैण्ड रिफ़ॉर्म) ने छत्तीसगढ़ के लौह अयस्क समृद्ध जिलों – बस्तर, दन्तेवाड़ा और बीजापुर में औद्योगीकरण अभियान को कोलम्बस के बाद मूल निवासियों की ज़मीन हड़पने की सबसे बड़ी घटना की संज्ञा दी है।

कमेटी के अनुसार, "20,000 करोड़ रुपये के कुल निवेश से इस्पात और बिजली के कारख़ाने लगाने के लिए अब तक 3,50,000 आदिवासियों को उजाड़ा जा चुका है। जमीन हड़प का यह महाअभियान एक खुले घोषित युद्ध के समान था। इस नाटक की स्क्रिप्ट टाटा और एस्सार ग्रुप ने लिखी थी, जो उन सात गाँवों और निकटवर्ती क्षेत्रों को खाली कराना चाहते थे, जो भारत में उपलब्ध लौह अयस्क की खुदाई की दृष्टि से शायद सबसे अधिक समृद्ध हैं।"

इस कमेटी का गठन जनवरी 2008 में हुआ था और इसने अपनी रिपोर्ट हाल ही में ग्रामीण विकास मन्त्री सी.पी. जोशी को सौंपी है, जिन्होंने इसे प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय भूमि सुधार परिषद को भेज दिया है। सलवा जुडुम के बारे में अब तक कई जनवादी अधिकार संगठनों की रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं। सभी रिपोर्टों में यह कहा गया है कि सलवा जुडुम आदिवासियों का

(पेज 6 पर जारी)

बुर्जुआ जनवाद : संकीर्ण, पाखण्डपूर्ण, जाली और झूठा; अमीरों के लिए जनवाद और गरीबों के लिए झाँसा

"...केवल संसदीय-सांविधानिक राजतंत्रों में ही नहीं, बल्कि अधिक से अधिक जनवादी जनतंत्रों में भी बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था का सच्चा सार कुछ वर्षों में एक बार यह फैसला करना ही है कि शासक वर्ग का कौन सदस्य संसद में जनता का दमन और उत्पीड़न करेगा।" (मार्क्स)

लेकिन अगर हमें राज्य के प्रश्न को लेना है, अगर इस क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग के कार्यभारों की दृष्टि से संसदीय व्यवस्था पर राज्य की एक संस्था के रूप में विचार करना है, तो संसदीय व्यवस्था से निस्तार का रास्ता क्या है? किस तरह उसके बिना काम चलाया जा सकता है?

हमें बार-बार दोहराना चाहिए : कम्यून के अध्ययन पर आधारित मार्क्स की सीखों को इतनी पूरी तरह भुला दिया गया है कि संसदीय व्यवस्था की अराजकतावादी या प्रतिक्रियावादी आलोचना को छोड़कर और कोई भी आलोचना आज के "सामाजिक-जनवादी" (पढ़िये : समाजवाद के आधुनिक गद्दार) की समझ में बिलकुल नहीं आती।

संसदीय व्यवस्था में निस्तार का रास्ता बेशक प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं और चुनाव के सिद्धान्त को ख़त्म कर देना नहीं, बल्कि प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं को गपबाज़ी के अड्डों से बदलकर "कार्यशली" संस्थाएँ बना देना है। "कम्यून संसदीय नहीं, बल्कि एक कार्यशील संगठन था, जो कार्यकारी और विधिकारी, दोनों कार्य साथ-साथ करता था।"

"संसदीय नहीं, बल्कि कार्यशील संगठन" –आज के संसदबाज़ों और सामाजिक- जनवाद के संसदीय पालतू कुत्तों के मुँह पर यह भरपूर तमाचा है! अमरीका से स्विट्ज़रलैंड तक, फ्रांस से इंग्लैण्ड, नार्वे आदि तक चाहे किसी संसदीय देश को ले लीजिये–इन देशों में "राज्य" के असली काम की तामील पर्दे की ओट में की जाती है और उसे महकमे, दफ़्तर और फ़ौजी सदर-मुकाम करते हैं। संसदों को आज जनताह को बेवकूफ़ बनाने के विशेष उद्देश्य से बकवास करने के लिए छोड़ दिया जाता है।"

(लेनिन : राज्य और क्रान्ति)

"...बुर्जुआ समाज की भ्रष्ट तथा सड़ी-गली संसदीय व्यवस्था की जगह कम्यून ऐसी संस्थाएँ क़ायम करता है, जिनके अन्दर राय देने और बहस करने की स्वतंत्रता पतित होकर प्रवंचना नहीं बनती, क्योंकि संसद-सदस्यों को खुद काम करना पड़ता है, अपने बनाये हुए कानूनों को खुद ही लागू करना पड़ता है, उनके परिणामों की जीवन की कसौटी पर स्वयं परीक्षा करनी पड़ती है और अपने मतदाताओं के प्रति उन्हें प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदार होना पड़ता है। प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ बरकरार रहती हैं, लेकिन विशेष व्यवस्था के रूप में, क़ानून बनाने और क़ानून लागू करने के कामों के बीच विभाजन के रूप में, सदस्यों की विशेषाधिकार-पूर्ण स्थिति के रूप में संसदीय व्यवस्था यहाँ नहीं होती। प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं के बिना जनवाद की, सर्वहारा जनवाद की भी कल्पना हम नहीं कर सकते, लेकिन संसदीय व्यवस्था के बिना जनवाद की कल्पना हम कर सकते हैं और हमें करनी चाहिए, अगर बुर्जुआ समाज की आलोचना हमारे लिए कोरा शब्दजाल नहीं हैं, अगर बुर्जुआ वर्ग के प्रभुत्व के उलटने की हमारी इच्छा गम्भीर और सच्ची है, न कि मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों की तरह, शीडेमान, लेजियन, सेम्बा और वारडरवेल्डे जैसे लोगों की तरह मज़दूरों के वोट पकड़ने के लिए "चुनाव" का नारा भर।"

(लेनिन : राज्य और क्रान्ति)

"...बुर्जुआ जनवाद, जो सर्वहारा वर्ग को शिक्षित-दीक्षित करने और उसे संघर्ष के लिए प्रशिक्षित करने के वास्ते मूल्यवान है, सदैव संकीर्ण, पाखण्डपूर्ण, जाली और झूठा होता है, वह सदा अमीरों के लिए जनवाद और गरीबों के लिए झाँसा होता है।

सर्वहारा जनवाद शोषकों को, बुर्जुआ वर्ग को कुचलता है और इस लिए वह पाखण्डपूर्ण नहीं है, **स्वतंत्रता तथा जनवाद** का उन्हें वचन नहीं देता, लेकिन मेहनतकशों को सच्चा जनवाद देता है। केवल सोवियत रूस ने सर्वहारा वर्ग तथा सारी विशाल मेहनतकश बहुसंख्या को किसी भी बुर्जुआ जनवादी जनतंत्र में अभूतपूर्व, असम्भव तथा अकल्पनीय स्वतंत्रता तथा जनवाद प्रदान किये। यह उसने, उदाहरण के लिए, बुर्जुआ जनों से महल और हवेलियाँ छीनकर (इसके बिना सभा करने की स्वतंत्रता पाखंड है), पूँजीपतियों से छापेख़ाने और कागज छीनकर (इसके बिना राष्ट्र की मेहनतकश बहुसंख्या के लिए प्रेस की स्वतंत्रता झूठ है), बुर्जुआ संसदीयता के स्थान पर उन सोवियतों के जनवादी संगठन की स्थापना करके किया, जो सर्वाधिक जनवादी बुर्जुआ संसद की तुलना में जनता के 1,000 गुना अधिक समीप, अधिक जनवादी है, इत्यादि।"

(लेनिन : सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काउत्सकी)

एक युद्ध जनता के विरुद्ध ...

(पेज 5 से आगे)

माओवाद-विरोधी स्वत:स्फूर्त जनान्दोलन नहीं है, बल्कि राज्य-प्रायोजित एक आतंकवादी मुहिम है जिसके निशाने पर माओवादियों से अधिक वह आम आदिवासी है, जिसे बलात राहत शिविरों में बाड़ेबन्दी करके रखा गया है। अब इस सरकारी कमेटी ने सच्चाई के एक और पहलू को उद्घाटित किया है। इस कमेटी की रिपोर्ट के मुताबिक, सलवा जुडुम से सबसे अधिक लाभ टाटा और एस्सार जैसे घरानों को है और वही उसे सर्वाधिक प्रोत्साहन दे रहे हैं। इन घरानों ने सलवा जुडुम की जमकर आर्थिक मदद भी की है। दूसरे नम्बर पर, सलवा जुडुम के साथ उन ठेकेदारों, व्यापारियों, छोटे उद्योगपतियों के हित जुड़े हैं, जिनका धन्धा उद्योगों के लगने के बाद चमक जायेगा। वे भी इस पर दाँव लगाये हुये हैं और इसकी सफलता का इन्तज़ार कर रहे हैं। कमेटी ने स्वीकार किया है कि इन ज़िलों में आज गृहयुद्ध जैसी स्थिति बनी हुई है।

आश्चर्य नहीं कि अपनी अमेरिका-यात्रा से लौटने के बाद गृहमन्त्री चिदम्बरम ने अपने एक बयान में कहा था कि आदिवासी क्षेत्रों में सैनिक कार्रवाई का उद्देश्य है, "जीतना, कब्ज़ा बनाये रखना और विकास करना।" यह जुमला उन्होंने अफ़गानिस्तान में तैनात अमेरिकी जनरल के वक्तव्य से सीधे उधार ले लिया था। अमेरिकी जनरल ने यह बात अफ़गानिस्तान के बारे में कही थी। चिदम्बरम यह बात अपने ही देश के नागरिकों के बारे में कह रहे हैं और बिल्कुल सच्ची-सच्ची बोल रहे हैं। तेल के लिए अमेरिका ने इराक़ में महाविनाश रचा। तेल की वैश्विक राजनीति के चलते ही वह अफ़गानिस्तान को अपना सामरिक चेकपोस्ट बनाये रखना चाहता है। भारत का पूँजीपति वर्ग अपने और साम्राज्यवादियों की हितपूर्ति के लिए, आज देश के भीतर इराक़ और अफ़गानिस्तान जैसा महाविनाश रचने के लिए कमर कस चुका है। खनिज सम्पदा के दोहन के लिए उसने वस्तुत: देश की जनता के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया है। लेकिन उसे एक बात नहीं भूलनी चाहिए। अमेरिका इराक़ में वैसे ही फँस चुका है जैसे दलदल में बूढ़ा हाथी। और अफ़गानिस्तान के बारे में अमेरिका और नाटो के शीर्ष सैन्य अधिकारियों का मानना है कि यह युद्ध जीतना नामुमकिन है। अपने देश की जनता के ख़िलाफ़ छेड़े गये युद्ध में भारतीय शासक वर्ग की भी यही स्थिति हो सकती है। चिदम्बरम ने अफ़गानिस्तान से जो रूपक लिया है, वह अपनी परिणति तक भी लागू हो सकता है।

माओवाद बहाना है, जनता ही निशाना है

इसी वजह से हम पहले से ही, और बार-बार इस बात पर बल देते रहे हैं कि "माओवाद तो बहाना है जनता ही निशाना है।" वैसे भी सेना या अर्द्धसैनिक बलों के पास ऐसा कोई भी उपाय नहीं है कि वे स्थानीय जनता को हमले का निशाना बनाये बग़ैर माओवादियों से निपट सकें। पूर्वोत्तर भारत और कश्मीर में सशस्त्र ग्रुपों से निपटने के दौरान सेना का मुख्य कहर जनता पर ही बरपा होता रहा है। सशस्त्र ग्रुप छापामार कार्रवाई के बाद दुर्गम जंगल-पर्वतों में और जनता के बीच बिखर जाते हैं। बौखलायी सेना फिर जनता को ही निशाना बनाती है और ज़्यादा से ज़्यादा अलग-थलग पड़ती जाती है। अन्तरराष्ट्रीय अनुभव भी यही बताते हैं।

पूरे देश में सर्वहारा क्रान्ति की दृष्टि से भा.क.पा. (माओवादी) की "वाम" दुस्साहसवादी रणनीति का जनदिशा का हामी कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी निश्चय ही समर्थन नहीं कर सकता। देश की व्यापक मेहनतकश आबादी – उद्योगों के उन्नत चेतना वाले सर्वहाराओं और विकसित खेती वाले इलाक़ों के ग्रामीण सर्वहाराओं, शहरी-ग्रामीण अर्द्धसर्वहाराओं और मध्यवर्ग को जागृत और संगठित किये बिना, कुछ पिछड़े इलाकों की पिछड़ी चेतना वाली आबादी को उसके अस्तित्व के सवाल पर जीवन-मृत्यु के संघर्ष के लिए संगठित किया जा सकता है, पर इससे देशव्यापी क्रान्ति तक पहुँचना सम्भव नहीं हो सकता। मात्र कुछ पिछड़े इलाक़ों में संघर्ष को छापामार युद्ध की मंज़िल तक पहुँचा देना भी "वामपन्थी" उग्रवाद का ही एक रूप है (साथ ही, भारत जैसे पूँजीवादी देश में जनवादी क्रान्ति की सोच भी ग़लत है)। हम राजनीतिक हत्याओं और आम लोगों को प्रभावित करने वाली आतंकी कार्रवाइयों का भी कतई समर्थन नहीं कर सकते। लेकिन इस सच्चाई से भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड से लेकर प. बंगाल के जंगलमहल इलाके तक माओवादी कैडरों ने न केवल वहाँ की उत्पीड़ित-वंचित आबादी के अस्तित्व की लड़ाई लड़ी है और उनकी आकांक्षाओं को स्वर दिया है, बल्कि आधी सदी से भी अधिक समय से उपेक्षित इस इलाक़े में जनशक्ति को लामबन्द करके महत्वपूर्ण रचनात्मक काम भी किये हैं। उन्होंने स्कूल, स्वास्थ्यकेन्द्र, सड़क, पुल और बाँध तक बनाये हैं। जहाँ 62 साल में सरकारी अमले कभी नहीं पहुँचे, वहाँ तक उन्होंने पहुँच बनायी है। अत्याचारी ठेकेदारों, भूस्वामियों को इन इलाक़ों से भागना पड़ा है। इसके चलते स्थानीय आम जनता में भा.क.पा. (माओवादी) का ज़बर्दस्त समर्थन आधार तैयार हुआ है। उस आधार को सैनिक कार्रवाई के द्वारा तोड़ा नहीं जा सकता। उल्टे जितना दमन होगा, प्रतिरोध उतना ही मज़बूत होगा।

और फिर सबसे बुनियादी बात वह है, जिसकी ओर लेखिका अरुन्धति राय ने भी अपने एक साक्षात्कार में इंगित किया था। उन्होंने कहा था कि जब प्रतिरोध के सारे लोकतान्त्रिक विकल्पों को सत्ता छीन लेगी तो लोगों के सामने हथियार उठाने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता। एक हद तक यह बात छत्तीसगढ़, झारखण्ड, जंगलमहल आदि के संघर्षों पर भी लागू होती है। सलवा जुडुम के बाद अब जिस पैमाने पर सैनिक कार्रवाई की योजना बनायी जा रही है, वह लोगों को विवश कर देगी कि वे हथियार उठाने का विकल्प चुनें। दूसरी बात जो अरुन्धति राय ने कही, वह भी उचित है। उन्होंने कहा कि उस आदमी के बारे में सोचिये, जिसकी बहन या पत्नी के साथ बलात्कार हुआ हो, बच्चे को मार दिया गया हो, परिवार को उजाड़ दिया गया हो। वह व्यावहारिकता के प्रश्न पर बिना अधिक सोचे हथियार उठाने को तैयार हो जायेगा।

इसीलिए, हमारी यह दृढ़ धारणा है कि राजकीय आतंकवाद ही सबसे बड़ा आतंकवाद होता है और हर प्रकार के आतंकवाद का मूल कारक होता है। आज भारतीय शासकवर्ग के निशाने पर केवल माओवादी कहलाने वाली राजनीतिक धारा ही नहीं है, बल्कि उसके बहाने देश के खनिज-समृद्ध इलाक़ों की आबादी को उजाड़कर उसके जंगल-ज़मीन को देशी-विदेशी पूँजीपतियों को सौंपने के लिए उन इलाकों की समूची जनता के ख़िलाफ़ एक खूनी युद्ध छेड़ा जा रहा है। इस युद्ध में शासक वर्ग कभी नहीं जीत सकता। आतंकवाद-विरोधी विशेषज्ञ माने जाने वाले पूर्व पुलिस अधिकारी के. पी.एस. गिल का भी मानना है कि सैनिक कार्रवाई करने पर सरकार छत्तीसगढ़ या अन्य ऐसे क्षेत्रों में वैसे ही फँस जायेगी जैसे अमेरिकी अफ़गानिस्तान में फँस गये हैं।

और बात सिर्फ छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा, महाराष्ट्र, पं. बंगाल के आदिवासी क्षेत्रों की ही नहीं है। नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ व्यापक मजदूर आबादी को उनके रहे-सहे अधिकारों से भी वंचित करके जिस तरह निचोड़ रही हैं, महँगाई और बेरोज़गारी जिस तरह से आम लोगों का जीना दूभर कर रही है, धनी-ग़रीब की खाई जितने विकराल एवं कुरूप शक्ल में बढ़ रही है और लोकतान्त्रिक दायरे में प्रतिरोध का स्पेस जिस तरह सिकुड़ता जा रहा है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि पूरा भारतीय समाज एक ज्वालामुखी के दहाने की ओर सरकता जा रहा है। शासक वर्ग इस स्थिति से चिन्तित और भयभीत है। उसके सामने अन्तत: एक ही विकल्प बचेगा – नग्न-निरंकुश दमनतन्त्र का विकल्प। और वह इस तैयारी में भी लगा है। उसकी समस्या यह है कि देश के एक छोटे-से हिस्से में तो जनता के विरुद्ध खूनी युद्ध चलाया जा सकता है, लेकिन पूरे देश की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी जब सड़कों पर होगी तो उसके विरुद्ध सेना उतारना आसान विकल्प नहीं होगा। यह भविष्य दूर हो सकता है, लेकिन उसकी कल्पना से भी शासक वर्ग काँप उठता है।

असल बात यह है कि देश की इस दशा-दिशा को सर्वहारा क्रान्तियों की उन हरावल ताक़तों को सही ढंग से समझना होगा जो जनदिशा को अमल में लाने की हामी हैं। स्थितियों को, और उनके विकास की दिशा को सही-सटीक तरीक़े से समझकर ही सामने खड़ी चुनौती का ठीक तरह से सामना किया जा सकता है और ठीक तरीके से भविष्य का रास्ता चुना जा सकता है।

• • •

(पेज 6 से आगे)

गोरखपुर में मज़दूर आन्दोलन की शानदार जीत

मज़दूरों की जुझारू एकता और भारी जनदबाव के आगे प्रशासन झुकने के लिए बाध्य

सरकारी आतंक का मुँहतोड़ जवाब!

गिरफ़्तार साथियों की बिना शर्त रिहाई!

श्रम क़ानून लागू कराने की लम्बी लड़ाई में एक कड़ी!

पूर्वी उत्तर प्रदेश के मज़दूरों में संघर्ष की चेतना जगायी!

गोरखपुर में करीब तीन महीने से चल रहे आन्दोलन में पिछले दिनों मज़दूरों ने एक बड़ी जीत हासिल की जब मज़दूरों और नागरिकों के भारी दबाव के आगे अन्ततः प्रशासन को झुकना पड़ा और 22 अक्टूबर की रात सभी माँगों को मानने के लिए लिखित समझौता करना पड़ा। इससे पहले 21 अक्टूबर की रात को प्रशासन ने चारों गिरफ़्तार मज़दूर नेताओं को बिना शर्त रिहा कर दिया था।

चार मज़दूर नेताओं की अवैध गिरफ़्तारी और बर्बर पिटाई के विरोध में 20 अक्टूबर को बरगदवां औद्योगिक क्षेत्र के पाँच कारख़ानों में हड़ताल हो गयी थी और 1500 से अधिक मज़दूरों ने ज़िलाधिकारी कार्यालय पर धरना और क्रमिक भूख हड़ताल शुरू कर दी थी। गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन समर्थक नागरिक मोर्चा की ओर से गोरखपुर में नागरिक सत्याग्रह आन्दोलन शुरू करने की घोषणा से ज़िला प्रशासन पर और भी दबाव बढ़ गया था। कलक्ट्रेट परिसर में बैठे मज़दूरों को भारी संख्या में पुलिस, पीएसी व रैपिड ऐक्शन फोर्स ने घेर रखा था, लेकिन मज़दूर बड़ी संख्या में डटे रहे। 21 अक्टूबर को ज़बर्दस्त प्रदर्शन, शहर के नागरिकों और विभिन्न संगठनों के दबाव और दिन भर चली वार्ता के बाद रात को प्रशासन ने चारों मज़दूर नेताओं को रिहा कर दिया। लेकिन सभी फ़र्ज़ी मुकदमे हटाने, पिटाई के दोषी अफ़सरों के ख़िलाफ़ कार्रवाई और मज़दूरों की माँगें पूरी कराने के लिखित आश्वासन की माँग पर भूख हड़ताल और धरना जारी रहा। 22 अक्टूबर को दो अन्य कारखानों के मज़दूर भी काम बन्द करके जिलाधिकारी कार्यालय पर धरने में शामिल हो गए। आन्दोलन के समर्थन में नागरिक अधिकार कर्मियों, मज़दूर नेताओं और छात्र-छात्राओं का एक जत्था दिल्ली से गोरखपुर पहुँचकर लोक-आह्वान अभियान शुरू कर चुका था और कई और जत्थे पहुँचने वाले थे। देशभर से विभिन्न संगठनों और अग्रणी जनाधिकार कर्मियों के विरोधपत्रों के पहुँचने का सिलसिला जारी था। दमन और फूट डालने की तमाम कोशिशों के बावजूद मज़दूरों के तेवर और तीखे हो गये थे। गोरखपुर के अनेक संगठन, बुद्धिजीवी और नागरिक मज़दूरों के पक्ष में प्रशासन पर दबाव डाल रहे थे। आखिरकार कई दौर की बातचीत के बाद, देर शाम को प्रशासन ने फ़र्ज़ी मुक़दमे हटाने, मार-पीट के दोषी अधिकारियों के विरुद्ध जाँच की सिफ़ारिश प्रदेश सरकार को भेजने और 10 दिनों के भीतर मज़दूरों की सभी माँगें पूरी कराने का लिखित आश्वासन दिया और वरिष्ठ अधिकारियों ने मज़दूरों के सामने आकर इसकी घोषणा की। इसके बाद आन्दोलन को स्थगित करने का फैसला लिया गया। उसी दिन सात कारखानों के सैकड़ों मज़दूरों ने शहर की सड़कों से होते हुए बरगदवां तक ज़बर्दस्त विजय जुलूस निकाला। कचहरी से बरगदवां तक पहुँचने में जुलूस को तीन घण्टे से भी ज़्यादा समय लग गया। आसमान गुँजाते नारों से मज़दूरों ने पूँजीपतियों, प्रशासन और उनके पक्ष में खड़े जनप्रतिनिधियों को यह जता दिया कि गोरखपुर का मज़दूर अब जाग गया है और हर दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ने के लिए कमर कसकर तैयार है।

रिहाई के बाद कलक्ट्रेट परिसर में मज़दूरों के बीच पहुँचे मज़दूर नेता गोरखपुर आन्दोलन समर्थक नागरिक मोर्चा की संयोजक कात्यायनी के साथ

आज के दौर में जब कदम-कदम पर मज़दूरों को मालिकों और शासन-प्रशासन के गँठजोड़ के सामने हार का सामना करना पड़ रहा है, गोरखपुर के मज़दूरों की यह जीत बहुत महत्वपूर्ण है। इसने दिखा दिया है कि अगर मज़दूर एकजुट रहें, एक जगह लड़ रहे मज़दूरों के समर्थन में मज़दूरों की व्यापक आबादी एकजुटता का सक्रिय प्रदर्शन करे, विश्वासघातियों और दलालों की दाल न गलने दी जाये और एक कुशल नेतृत्व की अगुवाई में साहस तथा सूझबूझ से पूँजीपतियों और प्रशासन की सभी चालों का मुक़ाबला किया जाये तो इस कठिन समय में भी मज़दूर छोटी-छोटी जीतें हासिल करते हुए बड़ी लड़ाई में उतरने की तैयारी कर सकते हैं। इस आन्दोलन ने देशभर में, विशेषकर मज़दूर संगठनों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं का ध्यान अपनी ओर खींचा है और इससे गोरखपुर ही नहीं, पूरे पूर्वी प्रदेश में मज़दूर आन्दोलन का नया एजेण्डा सेट करने की शुरुआत हो गयी है। इस आन्दोलन के सबकों और इसके दौरान सामने आये कुछ ज़रूरी सवालों पर आगे भी चर्चा जारी रहेगी।

बिगुल के पाठक अगस्त के पहले हफ़्ते से गोरखपुर में चल रहे इस आन्दोलन की रिपोर्टें पढ़ते रहे हैं। पिछले अंक में हमने बताया था कि 24 सितम्बर को मज़दूरों ने प्रशासन को समझौता कराने के लिए बाध्य कर दिया था। ज़िलाधिकारी की मौजूदगी में उपश्रमायुक्त ने 15 दिनों के भीतर मज़दूरों की माँगें पूरी कराने का आश्वासन लिखकर दिया था। 15 दिनों के भीतर समझौता लागू न होने पर ज़िला प्रशासन को समीक्षा बैठक करनी थी। दो सप्ताह से अधिक का समय बीत जाने पर भी कारखाना मालिकों ने आधे से अधिक मज़दूरों को काम पर नहीं लिया था। न्यूनतम मज़दूरी सहित ज़्यादातर माँगों पर कोई कार्रवाई नहीं गयी थी। बार-बार प्रशासन और श्रम विभाग से समीक्षा की माँग करने पर भी जब कोई सुनवाई नहीं हुई तो थकहारकर 14 अक्टूबर से मज़दूरों ने 30-30 के जत्थों में डीएम कार्यालय पर क्रमिक भूख हड़ताल शुरू कर दी। उनके समर्थन में सैकड़ों मज़दूर भी धरने पर बैठ गये। अब तक हाथ पर हाथ धरे बैठा प्रशासन अब फ़ौरन हरकत में आ गया और पूरी ताक़त से मज़दूरों पर टूट पड़ा। मज़दूर आन्दोलन को कुचलने के लिए प्रशासन ने फ़ैक्टरी मालिकों के इशारे पर एकदम नंगा आतंकराज कायम कर दिया।

15 अक्टूबर की रात संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा के तीन नेतृत्वकारी कार्यकर्ताओं – तपीश मैंदोला, प्रशान्त और प्रमोद कुमार और एक अग्रणी मज़दूर मुकेश को गिरफ़्तार कर लिया गया। 16 अक्टूबर को सिटी मजिस्ट्रेट ने उन्हें तकनीकी आधार पर ज़मानत देने से इंकार करके 22 अक्टूबर तक जेल भेज दिया। 15 अक्टूबर की शाम को ज़िला प्रशासन ने तीनों नेताओं को बातचीत के बहाने एडीएम सिटी के कार्यालय में बुलाया जहाँ ख़ुद एडीएम सिटी अखिलेश तिवारी, सिटी मजिस्ट्रेट अरुण और कैंट थाने के इंस्पेक्टर विजय सिंह ने अन्य पुलिसवालों के साथ मिलकर उन्हें लात-घूँसों से बुरी तरह मारा। बर्बरता की सारी हदें पार करते हुए ज़िले के इन वरिष्ठ अफ़सरों ने युवा कार्यकर्ता प्रशान्त को भी बुरी तरह मारा जबकि वह और अन्य साथी बार-बार कह रहे थे कि वे हृदयरोगी हैं और पिटाई उनके लिए घातक हो सकती है। वार्ता के बहाने एडीएम सिटी कार्यालय में बुलाए जाते ही इन चारों साथियों के मोबाइल फ़ोन छीनकर स्विच ऑफ़ कर दिये गये और सारे क़ानूनों और उच्चतम न्यायालय के निर्देशों को ताक पर धरकर देर रात जेल भेजे जाने तक उन्हें किसी से बात करने की इजाज़त नहीं दी गयी। जेल जाने के तीसरे दिन 17 अक्टूबर की शाम को जब कुछ साथी जेल में उनसे मिल सके, तब उन्होंने इन घटनाओं की जानकारी दी। बार-बार कहने के बावजूद प्रशासन ने उनका मेडिकल नहीं कराया। प्रशान्त दिल की गम्भीर बीमारी से ग्रस्त हैं यह बताने पर भी उन्हें चिकित्सा सुविधा नहीं दी गयी और दवाएँ तक नहीं मँगाने दी गयीं। उन्हें बार-बार आन्दोलन से अलग हो जाने के लिए धमकियाँ दी गयीं। इसके बाद उन्हें जेल भेज दिया गया तथा शान्ति भंग करने की धाराओं के अतिरिक्त डकैती और "एक्सटॉर्शन" (जबरन वसूली) के आरोप में फ़र्ज़ी मुक़दमे दर्ज कर लिये गये। अगले दिन मालिकों की ओर से इन तीन नेताओं के अलावा 9 मज़दूरों पर जबरन मिल बन्द कराने, धमकियाँ देने जैसे आरोपों में झूठे मुक़दमे दर्ज कराये गये। उसी रात ज़िलाधिकारी कार्यालय में अनशन और धरने पर बैठे मज़दूरों पर हमला बोलकर उन्हें वहाँ से हटा दिया गया। महिला मज़दूरों को घसीट-घसीटकर वहाँ से हटाया गया। प्रशान्त, प्रमोद, तपीश एवं मुकेश को ले जाने का विरोध कर रही महिलाओं के साथ मारपीट की गयी।

प्रशासन ने चारों मज़दूर नेताओं पर गैंग्स्टर एक्ट लगाने की भी पूरी तैयारी कर रखी थी। प्रशासन की मंशा कुछ मार्क्सवादी साहित्य, बिगुल मज़दूर अखबार और पेन ड्राइव आदि की बरामदगी दिखाकर उन्हें "माओवादी" बताते हुए संगीन धाराएँ लगाने की थी और कुछ अधिकारियों ने मीडिया में इस आशय के बयान भी दिये। लेकिन फिर कुछ पत्रकारों

(पेज 8 पर जारी)

गोरखपुर में मज़दूर आन्दोलन की शानदार जीत

(पेज 7 से आगे)

द्वारा ऐसे कदम के उल्टा पड़ जाने के ख़तरे के बारे में चेतावनी देने तथा व्यापक मज़दूर आक्रोश को देखते हुए उन्हें हाथ रोकना पड़ा। कुछ वरिष्ठ पत्रकारों ने बाद में बताया कि अगर मज़दूरों और नागरिकों की व्यापक गोलबन्दी तत्काल न हुई होती तो पुलिस की योजना थी कि प्रमुख नेताओं का एन्काउण्टर कर दिया जाये। अदालत में पेश करने के लिए लाये जाते समय भागने की कोशिश कर रहे "नक्सली" मुठभेड़ में मारे गये, इस आशय की कहानी तैयार कर ली गयी थी। यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि स्थानीय "चैम्बर ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़, अलग-अलग फैक्टरी मालिक और पुलिस एवं नागरिक प्रशासन के अधिकारी पिछले ढाई महीने से मीडिया में इस आशय के बयान देते रहे हैं कि इस मज़दूर आन्दोलन में "बाहरी तत्व", "नक्सली" और "माओवादी" सक्रिय हैं। स्थानीय भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ ने भी कई ऐसे बयान जारी किये। मामले को साम्प्रदायिक रंग देते हुए उन्होंने यह भी दावा किया कि इस आन्दोलन में माओवादियों के अतिरिक्त चर्च भी सक्रिय है। इस तरह मालिक-प्रशासन-नेताशाही के गँठजोड़ ने मीडिया के ज़रिये दुष्प्रचार करके मज़दूर आन्दोलन को कुचल देने के लिए महीनों पहले से माहौल बनाना शुरू कर दिया था।

कलक्ट्रेट परिसर में डेरा डाले मज़दूरों और उनके समर्थन में आये छात्रों-नौजवानों और नागरिकों के तीखे तेवरों से प्रशासन में हड़कम्प मच गया

22 अक्टूबर को हुए समझौते के बाद भी मज़दूर समझ रहे थे कि मालिकान इतनी आसानी से माँगों को लागू नहीं करने वाले हैं। अंकुर उद्योग और वीएन डायर्स की दोनों मिलों के आन्दोलन के समय से ही वे देख रहे थे कि अपने वायदों से बार-बार मुकर जाना मालिकान और प्रशासन की फ़ितरत है। संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा ने उसी दिन ऐलान कर दिया था कि आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ है बल्कि इसे केवल स्थगित किया गया है। यदि दस दिन के अन्दर समझौता पूरी तरह लागू नहीं कराया गया तो ग्यारहवें दिन से मज़दूर फिर से सड़क पर उतरकर आरपार की लड़ाई लड़ेंगे। लेकिन अगले ही दिन से मज़दूरों को फिर से जूझना पड़ गया। समझौते के बावजूद फैक्ट्री मालिक मज़दूरों को काम पर लेने में आनाकानी कर रहे थे। इसके विरोध में मज़दूरों ने फ़ैक्ट्री गेट जाम कर दिया। तीन दिन बीत जाने के बाद भी मॉडर्न लेमिनेटर्स लि. और मॉडर्न पैकेजिंग प्रा. लि. ने मज़दूरों को काम पर नहीं लिया था। प्रशासन अब भी मालिकों के साथ मिलकर मज़दूरों से लुकाछिपी का खेल खेलता रहा और धोखाधड़ी करता रहा। दरअसल मालिकों को फैक्ट्री तो चलानी थी लेकिन वे मज़दूरों को पूरी तरह झुकाकर और तोड़कर अपनी शर्तों पर वापस लेना चाहते थे और आन्दोलन के अगुआ मज़दूरों को बाहर कर देना चाहते थे। लेकिन मज़दूरों ने उन्हें ऐसा करारा जवाब दिया जिसकी उन्हें सपने में भी उम्मीद नहीं होगी।

25 अक्टूबर को मज़दूरों ने आपात बैठक करके निर्णय लिया कि वे अब पवन बथवाल के कारखाने में काम ही नहीं करेंगे। मज़दूरों ने तय किया कि जिन मज़दूरों को श्रम क़ानून लागू हुए बिना ही पवन बथवाल के यहाँ काम करना हो वे इसके लिए स्वतंत्र हैं लेकिन मज़दूरों की बहुसंख्या ऐसे मज़दूर विरोधी मालिक के लिए काम नहीं करना चाहती। अगले दिन सैकड़ों मज़दूरों ने डीएलसी कार्यालय में सामूहिक इस्तीफ़ा लिखकर दे दिया। हालाँकि कारखाने की करीब दो दर्जन स्त्री मज़दूरों ने तो पहले ही दिन कह दिया कि वे बथवाल के कारखाने में काम नहीं करेंगी और उसी दिन मुआवज़े सहित अपना हिसाब ले लिया था। मज़दूरों ने यह भी घोषणा की कि अन्य जगहों पर काम तलाशने और काम करने के साथ ही वे अब पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में श्रम क़ानूनों के घोर उल्लंघन के सवाल पर मज़दूरों के बीच प्रचार करेंगे और गोरखपुर प्रशासन तथा उत्तर प्रदेश सरकार के मज़दूर विरोधी-ग़रीब विरोधी चेहरे को नंगा करेंगे। श्रम विभाग से लेकर पुलिस-प्रशासन तक यहाँ मालिकों के चाकर की भूमिका निभाते हैं और मज़दूरों के लिए किसी कानून का कोई मतलब नहीं रह गया है। जिला स्तर से लेकर प्रदेश स्तर तक के अफसरों को मिलमालिक कठपुतली की तरह अपने इशारों पर नचाते हैं। मज़दूर अब टोलियाँ बनाकर पूर्वी प्रदेश के औद्योगिक क्षेत्रों में इसका भण्डाफोड़ करेंगे और पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में श्रम क़ानूनों के अमल के सवाल पर व्यापक मज़दूर आन्दोलन खड़ा करने की तैयारी करेंगे।

संयुक्त मज़दूर अधिकार मोर्चा ने कहा कि पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश के नब्बे प्रतिशत से अधिक कारखानों में श्रम क़ानूनों के न्यूनतम प्रावधन भी लागू नहीं हैं। मोर्चा इस मुद्दे पर मज़दूरों की व्यापक गोलबन्दी करके श्रम क़ानूनों को लागू कराने के लिए मुहिम छेड़ेगा। इसके साथ ही, वर्तमान श्रम क़ानूनों का दायरा अभी अति-सीमित है जो मज़दूरों को उनके श्रम का उचित मोल तथा सामाजिक सुरक्षा दिलाने में अक्षम है। इसलिए मोर्चा श्रम कानूनों की ख़ामियों को उजागर करने का भी काम करेगा और उनमें व्यापक बदलाव के लिए दबाव बनायेगा। गोरखपुर के आन्दोलन से साबित हो गया कि श्रम कानूनों को लागू कराने वाली सरकारी एजेंसियाँ अत्यन्त लचर और भ्रष्टाचार में डूबी हुई हैं। अधिकांश स्थानों पर ये एजेंसियाँ मालिकों के एजेण्ट की भूमिका निभाते हुए श्रम कानूनों के उल्लंघन में मददगार होती हैं। इसलिए श्रम विभाग से लेकर लेबर कोर्ट तक इन एजेंसियों को जवाबदेह, जनवादी तथा प्रभावी बनाना भी मोर्चा की मुहिम का हिस्सा होगा।

●

इस आन्दोलन ने मज़दूरों की व्यापक आबादी और आम नागरिकों के सामने इस व्यवस्था का असली चेहरा नंगा कर दिया। लोगों ने देखा कि किस तरह सरकार, प्रशासन, पुलिस, अदालत, जन-प्रतिनिधि, चुनावी नेता सब मिलकर एक बेहद जायज़ और न्यायपूर्ण आन्दोलन को कुचलने पर आमादा हो गये। मज़दूरों ने ढाई महीनों के दौरान गोरखपुर से लेकर लखनऊ तक, हर स्तर पर बार-बार अपनी बात पहुँचायी लेकिन "सर्वजन हिताय" की बात करने वाली सरकार कान में तेल डालकर सोती रही।

मॉडर्न लेमिनेटर्स लि. और मॉडर्न पैकेजिंग लि. के इन मज़दूरों की माँगें बेहद मामूली थीं। वे न्यूनतम मज़दूरी, जॉब कार्ड, ईएसआई कार्ड देने जैसे बेहद बुनियादी हक माँग रहे थे, श्रम क़ानूनों के महज़ कुछ हिस्सों को लागू करने की माँग कर रहे थे। बिना किसी सुविधा के 12-12 घण्टे, बेहद कम मज़दूरी पर, अत्यन्त असुरक्षित और असहनीय परिस्थितियों में ये मज़दूर आधुनिक गुलामों की तरह से काम करते रहे हैं। गोरखपुर के सभी कारख़ानों में ऐसे ही हालात हैं। किसी कारख़ाने में यूनियन नहीं है, संगठित होने की किसी भी कोशिश को फौरन कुचल दिया जाता है। पहली बार करीब पाँच महीने पहले तीन कारख़ानों के मज़दूरों ने संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा बनाकर न्यूनतम मज़दूरी देने और काम के घण्टे कम करने की लड़ाई लड़ी और आंशिक कामयाबी पायी। इससे बरसों से नारकीय हालात में खट रहे हज़ारों अन्य मज़दूरों को भी हौसला मिला। इसीलिए यह मज़दूर आन्दोलन इन दो कारखानों के ही नहीं बल्कि पूर्वी उत्तर प्रदेश के तमाम उद्योगपतियों को बुरी तरह खटक रहा था और वे हर कीमत पर इसे कुचलकर मज़दूरों को "सबक सिखा देना" चाहते थे। मज़दूरों और नेतृत्व के लोगों को डराने-धमकाने, फोड़ने की हर कोशिश नाकाम हो जाने के बाद यह सुनियोजित मुहिम छेड़ी गयी कि इस आन्दोलन को "माओवादी आतंकवादी" और "बाहरी तत्व" चला रहे हैं। प्रशासन और श्रम विभाग के अफ़सर तो उनके पक्ष में थे ही, शहर के भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ भी खुलकर उद्योगपतियों के पक्ष में उतर आये और मज़दूर आन्दोलन के ख़िलाफ़ बाक़ायदा मोर्चा खोल दिया। लेकिन मज़दूर पूरी तरह एकजुट थे। ऐसे दुष्प्रचारों और धमकियों तथा हमलों से डरने के बजाय उनका लड़ने का हौसला और बढ़ गया। इस बात का अच्छा प्रभाव यह हुआ कि वे समझ गये कि उनकी लड़ाई किसी एक-दो फ़ैक्टरी मालिक से नहीं, इस पूरी लुटेरी व्यवस्था से है, और उनका संघर्ष लम्बी लड़ाई की एक कड़ी है।

इस आन्दोलन की सबसे बड़ी ताक़त थी मज़दूरों की व्यापक एकजुटता। यह एकजुटता अनेक रूपों में देखने को आयी। आम तौर पर ठेका तथा दिहाड़ी मज़दूर आन्दोलन से अलग-थलग पड़ जाते हैं और उनकी माँगों पर ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन पिछले छह महीनों से जारी गोरखपुर के आन्दोलन में – चाहे अंकुर उद्योग व वीएन डायर्स की मिलों की लड़ाई हो, या मॉडर्न की दोनों बोरा मिलों की – ठेका और दिहाड़ी मज़दूर बाकी मज़दूरों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े और बाकी मज़दूरों ने भी उनकी विशिष्ट माँगों पर पूरा साथ दिया। इसीलिए, उनके बीच फूट डालने की मालिकों की तमाम कोशिशें कामयाब नहीं हो सकीं। पूरे बरगदवां क्षेत्र के मज़दूरों ने इस लड़ाई में शानदार एकजुटता का परिचय दिया। मज़दूर नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में 20 अक्टूबर को पाँच कारखानों – मॉडर्न लेमिनेटर्स, मॉडर्न पैकेजिंग, अंकुर उद्योग, वीएन डायर्स कपड़ा मिल व वीएन डायर्स धागा मिल में पूरी तरह हड़ताल हो गयी और लगभग सारे मज़दूर जुलूस में शामिल हुए। अगले दिन दो और कारखानों – लक्ष्मी साइकिल रिम तथा बर्तन फैक्ट्री – के मज़दूर भी काम बन्द करके कलक्ट्रेट पर पहुँच गये। बरगदवां इलाके के कई और कारख़ानों के मज़दूर भी लगातार आन्दोलन को विभिन्न तरीकों से सहयोग देते रहे। फैक्ट्री गेट पर देर रात होने वाली मीटिंगों में कई कारख़ानों के मज़दूर सैकड़ों की संख्या में जुटते थे। मॉडर्न के मज़दूरों के आन्दोलन के दौरान गेट पर चलने वाले सामूहिक भोजनालय के लिए अंकुर और वीएन डायर्स के मज़दूरों ने ही नहीं, पास के घोसीपुरवा गाँव के लोगों ने भी अनाज, तेल, गोइठा, पैसे आदि इकट्ठा करके पहुँचाये।

इस आन्दोलन की ख़बरें उत्तर प्रदेश के मज़दूरों के बीच दूर-दूर तक फैल गयीं और कई जगह तो मज़दूरों ने केवल इस आन्दोलन से प्रेरित होकर स्वत:स्फूर्त ढंग से अपने हक़ पाने के लिए लड़ाई छेड़ दी। 'बिगुल' के अक्टूबर अंक में हमने रामपुर, चन्दौली के पाँच बोरा कारख़ानों में चले आन्दोलन की रिपोर्ट छापी थी। बनारस के लहरतारा औद्योगिक क्षेत्र, हरिद्वार के सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र और इटावा तक इस आन्दोलन का असर गया। जगह-जगह से मज़दूरों ने फ़ोन करके अपनी एकजुटता और समर्थन का भरोसा जताया और मज़दूर नेताओं को अपने यहाँ भी संघर्ष की अगुवाई करने का न्योता दिया।

गोरखपुर के मज़दूर आन्दोलन का एक चरण समाप्त हो गया लेकिन मज़दूरों की व्यापक आबादी अब यह अच्छी तरह समझ चुकी है कि अगर अपने अधिकार पाने हैं तो उन्हें पूरी व्यवस्था के ख़िलाफ़ एक लम्बी लड़ाई लड़नी होगी। उनके बीच से अब पुलिस-प्रशासन-मालिकान के गुण्डों आदि का ख़ौफ़ निकल चुका है। यह इस आन्दोलन की बहुत बड़ी उपलब्धि है। ●

आन्दोलन ख़त्म होने के बाद संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा की ओर से जारी पर्चा

बौखलाये पूँजीपतियों का प्रचार युद्ध : गोयबेल्स अभी ज़िन्दा है!

थैली की ताक़त से सच्चाई को ढँकने की नाकाम कोशिश

औद्योगिक अशान्ति के लिए ज़िम्मेदार कौन?

हक़ और इंसाफ़ का झण्डा ऊपर उठा रहेगा! मेहनतकश का बढ़ा क़दम अब पीछे नहीं हटेगा!!

इंसाफ़पसन्द नागरिक भाइयो-बहनो और मेहनतकश साथियो,

पिछले कई महीनों से आप हम मजलूम मेहनतकशों की हक़ और इंसाफ़ की लड़ाई के गवाह रहे हैं और दिल से हमारा साथ दिया है। हमें डराने-धमकाने, दबाने-कुचलने के लिए फ़ैक्ट्री मालिकों ने क्या कुछ नहीं किया! ज़मीन-आसमान एक कर दिया उन्होंने। मज़दूरों पर और उनके अगुआ नेताओं पर अपने गुण्डों से हमले करवाये। प्रशासन के मुँह और जेबों में नोट ठूँसकर जबरन वसूली, डकैती आदि के कई मुक़दमे लगवाये। स्वयं ए.डी.एम.(सिटी) और सिटी मजिस्ट्रेट ने अपने दफ़्तर में बुलवाकर हमारे नेताओं की जानलेवा पिटाई की। इसके पहले हमारे नेताओं में से कुछ को ज़िलाबदर और कुछ के एनकाउण्टर की साज़िश भी रची गयी थी, लेकिन कुछ भलेमानसों के चलते हमें इस साज़िश की भनक लग गयी और मज़दूरों की चौकसी ने इस साज़िश को नाकाम कर दिया। आप सभी ने इसी दौरान उन चुनावी नेताओं का "चाल-चेहरा-चरित्र" और "ईमान- धरम" भी देखा, जो पूँजीपतियों के सुर में सुर मिलाते हुए अख़बारी बयानों में ये दावे करते रहे कि गोरखपुर के फ़ैक्ट्री मालिकों से अच्छी तनख़्वाह और सुविधाएँ पाने के बावजूद, मज़दूर "बाहरी तत्त्वों", "माओवादियों-नक्सलवादियों" के बहकावे में आकर आन्दोलन कर रहे हैं! ध्यान रहे कि इसी प्रकार के बयान कई बार 'चैम्बर ऑफ़ इण्डस्ट्री' नामधारी थैलीशाहों के जमावड़े ने भी दिये और ज़िला प्रशासन के अधिकारियों ने भी। हमने हर बार इन झूठे एवं फ़रेबी प्रचारों का नपा-तुला, मुख़्तसर-सा जवाब दिया और बार-बार यह साफ़ करने की कोशिश की कि हमारी माँगें क्या हैं!

बहरहाल, तमाम दमन-उत्पीड़न और झूठे प्रचारों के बावजूद, यह हक़ और इंसाफ़ के पक्ष में उठने वाली व्यापक आम आबादी की संगठित आवाज़ थी, जिसके चलते शासन- प्रशासन को और मालिकान को पीछे क़दम खींचने को मजबूर होना पड़ा। हमारे पक्ष में शहर के नागरिकों-बुद्धिजीवियों ने तो आवाज़ उठायी ही, पूरे देश के बुद्धिजीवियों, नागरिक अधिकार कर्मियों और मज़दूर भाइयों ने भी जमकर हमारा साथ दिया। हमारे समर्थन में एक नागरिक मोर्चा बना, जिसने यहाँ आकर नागरिक सत्याग्रह किया, दिल्ली-लखनऊ में प्रदर्शन हुए और पूरे देश से हज़ारों विरोध-पत्र मायावती सरकार को भेजे गये। गोरखपुर का मज़दूर आन्दोलन एक राष्ट्रीय मुद्दा बन गया और लोगों को लग गया कि आज़ादी की लड़ाई में अग्रणी भूमिका निभाने वाले पूर्वांचल की धरती उदारीकरण-निजीकरण की जनविरोधी-श्रमिक विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए एक बार फिर जाग रही है।

आपको पता ही है कि व्यापक जनता के 'करो या मरो' के संग्रामी संकल्प के आगे घुटने टेककर पिछले दिनों प्रशासन ने मज़दूर नेताओं को बिना शर्त रिहा कर दिया, कुछ मुक़दमे हटा लिये और कुछ को जल्दी ही हटाने का आश्वासन दिया तथा कारख़ानों में श्रम क़ानूनों पर अमल और मज़दूरों की क़ानूनसम्मत माँगों को मनवाने का भरोसा दिया। लेकिन अगले दिन से ही फिर धोखाधड़ी का खेल शुरू हो गया। मालिक पवन बथवाल-किशन बथवाल ने फिर सभी मज़दूरों को काम पर लेने और न्यूनतम मज़दूरी जैसी माँगों को मानने में हीला-हवाली शुरू कर दी। फिर मज़दूरों ने तय किया कि बहुत हो चुका, अब उन्हें बथवाल भाइयों के कसाईख़ाने में अपना ख़ून निचोड़वाना ही नहीं है। लेकिन अब ये नये ज़माने के ड्रैकुला (इंसानों का ख़ून पीने वाला शैतान) मज़दूरों की बकाया मज़दूरी का हिसाब-किताब भी नहीं कर रहे हैं। बहरहाल, **हम बथवाल बन्धुओं से बस इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि हम तो अपने ख़ून-पसीने की कमाई खाने वाले मेहनतकश हैं, पूँजीपतियों को हमारी ज़रूरत है और जब दिहाड़ी ही करनी है तो हम कहीं न कहीं काम पा ही लेंगे। ख़ास बात यह है कि हम अब अपने वाजिब हक़ों के लिए लड़ना सीख गये हैं। हम जहाँ भी जायेंगे, वहाँ गुलामों की तरह खटने के बजाय संगठित होने का काम जारी रखेंगे। हम अपने भाइयों के बीच एक नये न्याय-युद्ध का सन्देश लेकर जायेंगे। लेकिन बथवाल बन्धु, जब भी आप अपने कारख़ाने चलायेंगे और उनमें हमारे ही जैसे मज़दूर भरती होंगे तो गुलामों की तरह चुपचाप खटने के बजाय वे भी हक़ और इंसाफ़ की आवाज़ उठायेंगे। बथवाल भाइयों और सभी फ़ैक्ट्री मालिकों से तथा उनके खूँटे से बँधी, घूस का चारा और कमीशन की खली-चूनी खाने वाली नेताशाही-नौकरशाही से हमारा वायदा है –**

हर दिल में बग़ावत के शोलों को जला देंगे
हम जंगे-अवामी से कोहराम मचा देंगे।

हम यह घोषणा करते हैं :

मज़दूर हर जुलम का अब तुमसे हिसाब माँगेगा
शोषण का सच जानेगा, हक़ लेकर ही मानेगा।

झूठ-फ़रेब, अफ़वाहबाज़ी, कुत्सा-प्रचार की नयी मुहिम

आने वाले दिनों की सच्चाई को बथवाल बन्धु और उन्हीं की प्रजाति के अन्य जीव-जन्तु भली-भाँति जानते हैं। इसलिए एक बार फिर, खिसियानी बिल्ली उछल-उछलकर खम्भा नोच रही है। तथाकथित **'उद्योग बचाओ समिति'** के स्वयंभू संयोजक पवन बथवाल ने थैली के ज़ोर से **हमारे खिलाफ़ एक नया प्रचार-युद्ध छेड़ दिया है – झूठ-फ़रेब, अफ़वाहबाज़ी, और कुत्सा-प्रचार की नयी गालबजाऊ मुहिम शुरू हुई है।** इसकी शुरुआत स्थानीय अख़बारों में छपे एक विज्ञापन से हुई है, जिसमें हमारे ऊपर कुछ नयी और कुछ पुरानी, तरह-तरह की तोहमतें लगाई गयी हैं। इनमें से कुछ घिनौने आरोपों के लिए हम पवन बथवाल को अदालत में भी घसीट सकते हैं, लेकिन उसके पहले हम इस फ़रेबी प्रचार की असलियत का खुलासा अवाम की अदालत में करना चाहते हैं।

पहला झूठ–कपटी झूठ : 'उद्योग बचाओ समिति' के स्वयंभू संयोजक ने एक स्थानीय अख़बार में प्रकाशित विज्ञापन में छाती पीट-पीटकर यह दुखड़ा रोया है कि पूर्वांचल के तमाम लघु उद्योगों को बड़ी देशी-विदेशी कम्पनियों से प्रतिस्पर्द्धा और मन्दी का सामना करना पड़ रहा है। ऐसे में मज़दूर आन्दोलन ने उनके सामने गम्भीर संकट पैदा कर दिया है। उनके मुताबिक़, जब कारख़ाने रहेंगे, तभी श्रमिक और श्रमिक क़ानून रहेंगे।

इसके जवाब में हम पवन बथवाल और अन्य फ़ैक्ट्री मालिकों से निवेदन करना चाहते हैं कि इन हालात में, बड़े उद्योगों का मुक़ाबला करने के लिए उन लोगों को भी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों का संगठित होकर विरोध करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के चलते बड़े देशी-विदेशी उद्योगों को विशेष छूट मिली है और मन्दी लाने में भी इन नीतियों का विशेष योग है! लेकिन नहीं, ऐसा करने के बजाय आप लोग तो मज़दूरों का ही पेट काटकर मुनाफ़ाखोरी की प्रतिस्पर्द्धा में बड़ी पूँजी का मुक़ाबला करना चाहते हैं क्योंकि यही छोटे पूँजीपति की फ़ितरत होती है। पूँजी और तकनोलॉजी में पिछड़ जाने के बाद वह मज़दूरों की हड्डियाँ निचोड़कर बाज़ार में टिके रहना चाहता है। लेकिन एक मुनाफ़ाखोर के रूप में आपको बचाने के लिए हम मज़दूर अपने बाल-बच्चों का पेट क्यों काटें? इससे क्या आप अपनी अकूत सम्पत्ति में से हमें भी कुछ दे देंगे? महोदय, पूँजी के इस खेल में बड़ी मछली छोटी मछली को खाती रहती है और इसमें आप हमसे पूछकर नहीं शामिल हुए हैं। मुनाफ़ाखोरी की होड़ में आपके टिके रहने के लिए हम अपनी बलि क्यों दें? आपका संकट अपना मुनाफ़ा बनाये रखने का है और हमारा संकट जीने का है। हमसे हमारा श्रम मुफ़्त माँगने से तो अच्छा है कि आप गोरखनाथ मन्दिर के बाहर बैठकर भीख माँगिये। जिस दिन आप उजड़कर आम आदमी बन जायेंगे, तब हमारा और आपका हित एक होगा और हम उसके लिए लड़ेंगे। लेकिन असल बात यह है कि आप उजड़ने कतई नहीं जा रहे हैं। आपके पास उद्योगों, होटल, ज़मीन आदि के रूप में देश के विभिन्न शहरों में जो चल-अचल सम्पत्ति है और उसमें (आपके मेयर बनने के पहले से लेकर अब तक) लगातार जो बढ़ोत्तरी हुई है, उसका हमें भी अन्दाज़ा है और इस शहर की जनता को भी। फिर आप अपने विलाप से किसे प्रभावित करना चाह रहे हैं?

दूसरा झूठ–बेशर्म झूठ : पवन बथवाल का दावा है कि गोरखपुर का कोई भी उद्यमी श्रमिकों से ज़बरदस्ती काम नहीं कराता या आपसी समझौते से कम पैसा नहीं देता। पहली बात तो यह कि यह एक ऐसा सफ़ेद झूठ है जिस पर **हिटलर** का प्रचार मन्त्री **गोयबेल्स** भी शरमा जाता। **श्रमिकों से यहाँ के सभी पूँजीपति सरकार द्वारा तय न्यूनतम मज़दूरी से भी काफ़ी कम पर, उनकी मजबूरी का फ़ायदा उठाकर काम कराते हैं और मजबूरी का लाभ उठाने से बड़ी ज़बरदस्ती और कोई नहीं होती।** जहाँ तक आपसी समझौते की बात है, अब तक मज़दूरों के बिखराव का लाभ उठाकर पूँजीपति उन पर अपनी मनमानी शर्तें थोपते रहे हैं। मज़दूरों ने जैसे ही एकजुट होकर पगार सम्बन्धी समझौते की शर्तें रखीं, वैसे ही मालिकान की असलियत सामने आ गयी। वे गुण्डागर्दी, षड्यन्त्र और अफ़सरों को नोट खिलाकर मज़दूरों का दमन करवाने लगे और बार-बार समझौता करने और मुकरने का खेल खेलने लगे। बथवाल महोदय, यह तमाशा तो कई महीनों से इस शहर की जनता देख रही है, आप किसकी आँखों में धूल झोंकने की कोशिश कर रहे हैं? दूसरी अहम बात यह है कि **मालिक और मज़दूर के बीच मज़दूरी सम्बन्धी कोई समझौता यदि हो भी जाये और वह श्रम क़ानूनों द्वारा बतायी गयी न्यूनतम मज़दूरी और अन्य शर्तों के अनुसार न हो, तो वह ग़ैर क़ानूनी है, जिस पर मज़दूर ही नहीं, कोई तीसरा पक्ष – कोई नागरिक भी सवाल उठा सकता है तथा जनहित याचिका भी दाख़िल कर सकता है।** मज़दूर अब तक मालिकों की मनमानी शर्तों को इसलिए मानकर बेबस गुलामों का जीवन जीते रहे हैं, क्योंकि वे संगठित नहीं रहे हैं। अब वे एक साथ एक स्वर में, श्रम क़ानूनों को लागू करते हुए वेतन और सेवा शर्तों के सवाल पर नया समझौता चाह रहे हैं, तो मालिक गुण्डागर्दी और अँधेरगर्दी पर आमादा हैं। मज़दूर संगठित होकर समझौते की शर्तों पर कोई मोलतोल न कर सकें, इसीलिए गोरखपुर के फ़ैक्ट्री मालिक हर क़ीमत पर अभी भी उन्हें यूनियन बनाने से रोक रहे हैं और इसके लिए सालाना श्रम विभाग के अफ़सरों को ऊपर से नीचे तक घूस खिलाने में एक-एक पूँजीपति लाखों-लाख रुपये खर्च करता है।

तीसरा झूठ–झूठ ही झूठ : "सत्यवादी" पवन बथवाल ने अपने विज्ञापन में दावा किया है कि आठ घण्टे के अतिरिक्त मज़दूर जो भी ओवरटाइम करता है, उसका उसे अतिरिक्त पैसा मिलता है जिससे उसकी अच्छी-ख़ासी अतिरिक्त आय होती है। अरे भूतपूर्व मेयर साहब, झूठ और छल-प्रपंच की भी कोई हद होती है! पहली बात यह कि आपके कारख़ाने में आठ घण्टे के कार्यदिवस की मज़दूरी भी न्यूनतम मज़दूरी की निर्धारित दर से नहीं मिलती। दूसरी बात यह कि क़ानूनन ओवरटाइम की दर सामान्य काम के घण्टों से दूनी होनी चाहिए, लेकिन आपके वहाँ सिंगल रेट पर ही ओवरटाइम होता है। अन्य कारख़ानों में भी यही होता है। दूसरे, यह सच्चाई भी तो आपको जनता को बतानी चाहिए कि एक-एक मज़दूर से आप कितने लूम एक साथ चलवाते हैं, और प्रोडक्शन का ऊँचा टारगेट मनमाने ढंग से तय करके किस तरह उनका नस-नस निचोड़ लेते हैं। आपको यह सच्चाई भी बतानी चाहिए कि किस तरह 55 और 60 डिग्री तापमान पर मज़दूर भयंकर हानिकारक गैसीय प्रदूषण के बीच बिना किसी सुरक्षा उपकरण और बिना एक्जास्ट आदि सुविधा के काम करते हैं। आपको यह भी बताना चाहिए कि आप मज़दूरों को जॉब कार्ड आदि नहीं देते, निर्धारित दर से बोनस नहीं देते, ई.एस.आई., पी.एफ. आदि से सम्बन्धित श्रम क़ानून के किसी प्रावधान को लागू नहीं करते। मज़दूरों का हक़ मारकर यह सारा बचाया गया पैसा आपकी अंटी में ही जाता है। यह मुनाफ़ा कमाना नहीं है, बल्कि एक साथ लूट-डकैती, ठगी और जेबकतरी सब है। यही नहीं, वास्तविक उत्पादन को छिपाकर बड़े पैमाने पर यहाँ के सभी फ़ैक्ट्री मालिक राजस्व की चोरी करते हैं।

चौथा झूठ–सन्त होने का दिखावा करने वाले लुटेरे का झूठ : पवन बथवाल द्वारा प्रकाशित विज्ञापन, इतनी अँधेरगर्दी के बावजूद यह दावा करता है कि वे मज़दूरों की भलाई की सोचते हैं और औद्योगिक प्रबन्धन उनके प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाता है। आपके "मानवीय दृष्टिकोण" की असलियत मज़दूर तो हमेशा से जानते थे, अब शहर के नागरिक भी आन्दोलन के दौरान आपकी "मानवीयता" देख चुके हैं। आपका कहना है कि ओवरटाइम से हमारे समय का रचनात्मक उपयोग कारख़ाने के लिए भी होता है और हमारे लिए भी। हम अपने समय का रचनात्मक उपयोग अपने और अपने परिवार के लिए कैसे करेंगे, यह आप हमारे ऊपर छोड़ दीजिए। आप तो सिर्फ़ यह चाहते हैं कि हम अपने समय का "रचनात्मक उपयोग" करके (सिंगल रेट पर ओवरटाइम करते हुए) आपका मुनाफ़ा कैसे बढ़ाएँ!

बथवाल जी, आप जैसे धन्ना सेठ फ़ैक्ट्री में नौकरी देकर मज़दूरों पर कोई अहसान नहीं करते। उनके बिना आप मुनाफ़ा भला कैसे कमा पायेंगे? कारख़ाने में आपने जो पूँजी-निवेश किया है, वह पूँजी हमारे जैसे मज़दूरों को निचोड़कर ही आयी है। यह मज़दूर हैं, जो कारख़ानों में श्रमशक्ति लगाकर उत्पादन करते हैं। आपका अस्तित्व हमारे ऊपर निर्भर है, हमारा आप पर नहीं। हम समाज के लिए उपयोगी चीज़ें पैदा करते हैं। आप अपने लिए मुनाफ़ा निचोड़ते हैं। हमारे ऊपर दया का अश्लील दिखावा कृपया न करें।

पाँचवा झूठ–"लोककल्याणकारी" प्रपंची झूठ : आपका विज्ञापन यह भी दावा करता है कि सरकार को गोरखपुर के उद्योगों से एक हज़ार करोड़ रुपये राजस्व के रूप में प्राप्त होता है, जो लोक कल्याणकारी कार्यों पर ख़र्च होता है। यहाँ भी थोड़ा छल-प्रपंच है। पहली बात यह कि लोक कल्याणकारी कार्यों पर जो सरकारी धन ख़र्च होता है, उसका नब्बे प्रतिशत हिस्सा उन परोक्ष (इनडाइरेक्ट) करों से आता है जो आम लोग सीधे सरकार को देते हैं। दूसरी बात यह कि, पूँजीपति सरकार को जो टैक्स देते हैं, वह मज़दूरों से निचोड़े गये मुनाफ़े का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा होता है। तीसरी बात यह कि, वास्तविक देय राजस्व का 50 से 70 फ़ीसदी हिस्सा पूँजीपति चुरा लेते हैं। इस चोरी के लिए वे अफ़सरों-नेताओं को जो घूस देते हैं, वह सरकारी कोष में दिये जाने वाले राजस्व से अधिक होता है। इस तरह फ़ैक्ट्री मालिक अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के अतिरिक्त जो "योगदान" करते हैं, वह समाज में भ्रष्टाचार बढ़ाने का "योगदान" है तथा काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था को मज़बूत बनाने का "योगदान" है। यानी ख़ुद लूटो और ठगों-बटमारों' को भी हिस्सा दो! है न "लोक

कल्याणकारी" काम!

छठा झूठ–भेड़ों की रखवाली करने वाले भेड़िये का झूठ : पवन बथवाल अपने विज्ञापन में गुहार लगाते हैं कि श्रमिक अशान्ति के चलते पूर्वांचल के उद्योग ठप्प हो जायेंगे और पूर्वांचल का विकास रुक जायेगा। इन जैसे लोग ही यदि पूर्वांचल के विकास के ठेकेदार हैं, तो यह बात कुछ वैसी ही है जैसे भेड़िये ने भेड़ों की रखवाली का ज़िम्मा सम्हाल लिया हो। **इलाक़े का विकास व्यापक मेहनतकश जनता की ख़ुशहाली से होगा, थोड़े से मुनाफ़ाखोरों का मुनाफ़ा बढ़ने तथा भ्रष्ट नेताओं-अफ़सरों की सम्पत्ति बढ़ने से नहीं। पवन बथवाल जैसे लोग मज़दूरों को निचोड़ते हुए श्रम क़ानूनों तक का पालन न करें और अपने मुनाफ़े से ज़्यादा से ज़्यादा कारख़ाने खोलकर ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों को निचोड़ते रहें, तो इससे इलाक़े का भला क्या भला होगा?** इलाक़े का भला जनता की भलाई से होगा। यह तब होगा जब सरकार सड़क, बिजली, पानी, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सुविधाओं का ढाँचा खड़ा करने में सार्वजनिक धन लगाये और इन कार्यों में व्यापक आबादी को रोज़गार मिले। इलाक़े की भलाई की चिन्ता है तो पूँजीपतियों को कम से कम सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी, ओवरटाइम की मज़दूरी, बोनस, पी.एफ. आदि देना चाहिए ताकि मज़दूर अपने परिवार का पेट भर सकें, दवा-इलाज करा सकें, बच्चों को पढ़ा-लिखा सकें। पवन बथवाल जैसे पूँजीपति यदि मज़दूरों को वाजिब मज़दूरी देंगे तो उजड़ नहीं जायेंगे। मुनाफ़ा तो तब भी होगा, बस अतिलाभ नहीं निचोड़ सकेंगे। बथवाल जैसों को चिन्ता अपनी तिजोरी की है, पर इसे वे इलाक़े की चिन्ता के रूप में पेश कर रहे हैं। पूँजीपतियों के शब्दकोश में इलाक़े का एक अर्थ शायद तिजोरी होता हो।

लेकिन, पवन बथवाल सच में उतने समझदार पूँजीपति नहीं हैं, अन्यथा उनके मुँह से सच्चाई ख़ुद ब ख़ुद नहीं निकल पड़ती। अपने विज्ञापन में वह आख़िरी बिन्दु तक आते-आते धीरज खो बैठते हैं और श्रम क़ानून को ही दुष्चक्र बताने लगते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि भारत के श्रम क़ानून मज़दूरों को बहुत ही कम अधिकार देते हैं और उदारीकरण-निजीकरण के वर्तमान दौर में उनका अमली तौर पर कोई विशेष मतलब नहीं रह गया है। लेकिन पवन बथवाल और उनके संगी-साथी तो इन रहे-सहे श्रम क़ानूनों को भी दुष्चक्र मानते हैं। ज़ाहिर है कि वे इस दुष्चक्र से दूर ही रहते हैं। यानी प्रकारान्तर से वे स्वीकार करते हैं कि वे श्रम क़ानूनों का पालन करने को तैयार नहीं हैं। उनका मानना है कि श्रम क़ानूनों के दुष्चक्र के कारण ही ठेकेदारी प्रथा बढ़ रही है। लेकिन जनाब, ठेका मज़दूरों के लिए भी न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे आदि के जो क़ानूनी प्रावधान हैं, आप तो उन्हें भी नहीं मानते। कहने को तो वे यह भी कहते हैं कि विकास के रास्ते में सिर्फ़ कायदे-क़ानून की बात करना नकारात्मक होता है। यानी "विकास" के लिए उनकी आत्मा इतनी बेकल है कि गैरक़ानूनी काम करने को भी तैयार हैं। बथवाल जी दरअसल अपनी पूँजी के विकास की बात कर रहे हैं। यही सच है। **पूँजीवादी हुकूमत पूँजीवाद को क़ायम रखने के लिए लूटपाट-शोषण की अनियन्त्रित होड़ और रफ़्तार पर कुछ क़ानूनी नियन्त्रण क़ायम रखना चाहती है ताकि जनता का लोकतान्त्रिक भरम बना रहे। लेकिन पूँजीपति अपना-अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की होड़ में उन क़ानूनों के भी खुले-छिपे उल्लंघन की कोशिश करते रहते हैं। हम मज़दूर आज तो महज़ मौजूद श्रम-क़ानूनों पर अमल की लड़ाई लड़ रहे हैं। लेकिन आगे हम इन श्रम क़ानूनों के दायरे को भी बढ़ाने की लड़ाई लड़ेंगे। यही नहीं, हमारी अन्तिम लड़ाई तो पूँजीवादी व्यवस्था के ही ख़िलाफ़ है। पवन बथवाल जी, हम अपनी इस बात को साफ़-साफ़ बता रहे हैं। मज़दूर पूँजीपतियों की तरह अपनी असली नीयत और कारगुज़ारी पर तरह-तरह का पर्दा नहीं डालते।**

सातवाँ झूठ–महाझूठ : अपने विज्ञापन में एक बार फिर पवन बथवाल ने हमारे आन्दोलन पर कुछ "बाहरी तत्त्वों" की घुसपैठ का, तथा उनके द्वारा प्रतिमाह प्रति मज़दूर 100 रुपये वसूलकर महीने में दो लाख रुपये तक कमा लेने का आरोप लगाया है। इस आरोप पर इस झूठासुर शिरोमणि की नाक अदालत में भी रगड़ी जा सकती है, लेकिन पहले जनता की अदालत है। हम पहले भी ऐसे आरोपों के जवाब दे चुके हैं। हम मज़दूर आन्दोलन के लक्ष्य को आगे बढ़ाने और रोज़मर्रा की कार्रवाइयों के लिए बेशक आपस में चन्दा करते हैं, जो पूर्णत: स्वैच्छिक होता है और जिसका हिसाब-किताब दिन के उजाले की तरह साफ़ होता है। हमारे कोष का कोई व्यक्तिगत लाभ उठा ही नहीं सकता। हमारे जिन नेताओं को (प्रशान्त, प्रमोद और अन्य युवा कार्यकर्ताओं को) "बाहरी तत्त्व" और "नक्सलवादी-माओवादी" कहा जाता रहा है, उन साथियों को छात्र-युवा कार्यकर्ता के रूप में इस शहर के लोग बरसों से जानते हैं और इसके पहले भी वे सफ़ाई-कर्मचारियों और अन्य मज़दूरों के हक़ों की लड़ाई में अहम भूमिका निभा चुके हैं। तीसरे साथी (तपीश मैन्दोला) श्रम मामलों के प्रसिद्ध विशेषज्ञ पत्रकार होने के साथ ही वर्षों से नोएडा-ग़ाज़ियाबाद में असंगठित मज़दूरों के बीच काम करते रहे हैं और इन दिनों उ.प्र. के तीन ज़िलों में नरेगा मज़दूरों को संगठित कर रहे हैं। जहाँ तक इनके "बाहरी-भीतरी" का सवाल है, तो चम्पारण के किसानों के लिए गाँधीजी भी बाहरी थे। मज़दूर आन्दोलन को संगठित करने की शुरुआत हमारे देश में और पूरी दुनिया में उन तथाकथित बाहरी लोगों ने ही की थी जो मज़दूर हितों के लिए समर्पित थे।

पवन बथवाल द्वारा प्रकाशित विज्ञापन कहता है कि गोरखपुर के उद्योगों में सफलता पाने के बाद, "श्रमिक आन्दोलन के नाम पर काम कर रहा समूह" अपनी इस सफलता को ब्राण्ड बनाकर चारों तरफ़ अशान्ति फैलायेगा। बथवाल जी, सच को देखने का आपका नज़रिया और कोण अलग है, पर आप जो कह रहे हैं, उसमें सत्यांश है। **आप जिसे "अशान्ति" कह रहे हैं, हम उसे 'हक़ और इंसाफ़ की लड़ाई' मानते हैं। हम ख़ुद ही आपको बता दें कि हम तो ज़्यादा से ज़्यादा कारख़ानों और इलाक़ों के मज़दूर भाइयों को साथ लेकर यह लड़ाई लड़ना चाहते हैं। हम यह भी बता दें कि गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन की आवाज़ पूरे उत्तर प्रदेश के मज़दूरों तक पहुँच चुकी है। पूर्वांचल जाग रहा है। कालान्तर में उदारीकरण-निजीकरण की घोर मज़दूर विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ पूरे देश के मज़दूरों में आन्दोलन की जो लहर जंगल की आग के समान फैलने वाली है, उसमें उत्तर प्रदेश के मज़दूर भी शामिल होंगे। आपको धन्यवाद, आपके सहयोगी नेताओं-अफ़सरों को धन्यवाद, कि उन्होंने इस आग में घी डालने का काम किया है।**

आठवाँ झूठ–हास्यास्पद झूठ : पवन बथवाल द्वारा प्रायोजित विज्ञापन दावा करता है कि श्रमिक क़ानूनों की आड़ में पैदा हुए ग़ैरश्रमिक नेताओं के कारण ही गोरखपुर खाद कारख़ाना, सभी चीनी मिलें, कताई मिलें बन्द हो गयीं। यह या तो कोई मूर्ख कह सकता है, या कोई झुट्ठा! इस पर अर्थशास्त्रियों के दर्जनों शोध-अध्ययन प्रकाशित हो चुके हैं कि पुरानी तकनोलॉजी और नौकरशाहाना भ्रष्टाचार के चलते किस तरह एफ.सी.आई. के खाद कारख़ानों जैसे पब्लिक सेक्टर के तमाम उद्यम या तो तबाह हो गये, या फिर निजीकरण की राह खोलने के लिए जानबूझकर सरकार ने उन्हें घाटे के दुष्चक्र में धकेल दिया। भारत के चीनी उद्योग और कताई मिलों का संकट भी पुरानी तकनोलॉजी और बड़ी पूँजी के सामने छोटी पूँजी के न टिक पाने की स्वाभाविक पूँजीवादी गति से पैदा हुआ संकट है। इनमें मज़दूर आन्दोलन की कोई भूमिका नहीं रही है। साथ ही, पूँजीपतियों को जब भी कम लाभकारी सेक्टर से पूँजी निकालकर अधिक लाभकारी सेक्टर में लगाना होता है, तो वे कारख़ानों की बन्दी का दोष मज़दूर आन्दोलन पर मढ़कर अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं।

इस प्रश्न पर, और न केवल इसी प्रश्न पर, बल्कि सारे मुद्दों पर हम पवन बथवाल की 'उद्योग बचाओ समिति' को किसी सार्वजनिक स्थल पर जनसभा आयोजित करके खुली बहस की चुनौती देते हैं।

भाइयो, बहनो, साथियो, **हम अपने न्याय-युद्ध में दिलोजान से साथ देने के लिए इस शहर की आम जनता को दिल से धन्यवाद देते हैं, उसका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। पवन बथवाल ने जब श्रम क़ानूनों को लागू नहीं ही किया (पूरे प्रशासन को उसने ख़रीद लिया है) तो हमने भी उसके कारख़ानों में न जाने का निश्चय किया। हम मेहनतकश हैं। कहीं भी जाकर मेहनत की रोटी खा लेंगे। पर अब हम जहाँ भी जायेंगे, हक़ और इंसाफ़ के लिए अपने भाइयों को संगठित करेंगे। आगे पवन बथवाल अपनी फ़ैक्ट्रियों में हमारे ही जैसे जिन मज़दूरों को लगायेंगे, वे भी अब गुलामों की ज़िन्दगी नहीं बितायेंगे, बल्कि अपने हक़ के लिए लड़ेंगे। हम भी देखेंगे कि फ़ैक्ट्री मालिक थैली के ज़ोर से, चन्दा चाटू नेताओं और घूसखाऊ अफ़सरों को ख़रीदकर मेहनतकशों की आवाज़ को कब तक दबाते हैं और कैसे दबाते हैं।**

मज़दूर एकता ज़िन्दाबाद!

सर्दियाँ उनकी हैं, बसन्त हमारा होगा!!

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा

सम्पर्क - एल.आई.जी. द्वितीय, 414, विकासनगर, बरगदवां, गोरखपुर

मो. नं. 9415462164, 9454643627, 9506163161

उद्योगपतियों की ओर से गोरखपुर के अख़बारों में प्रकाशित आधे पृष्ठ का विज्ञापन हूबहू प्रस्तुत है

गोरखपुर की औद्योगिक अशान्ति का सच

गोरखपुर के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति से आप सभी सम्मानित पाठक और गोरखपुर के विकास से जुड़े सम्मानित नागरिक बन्धु वाकिफ हैं।

एकाएक पिछले जून माह से (पाँच महीने से) यहाँ कुछ गैर श्रमिक तथाकथित नेताओं द्वारा हमारे श्रमिक भाइयों को दिवास्वप्न, लालच व बरगलाकर यहाँ एक अशान्ति का माहौल पैदा कर दिया गया है। इससे इस क्षेत्र का विकास अवरुद्ध तो हो ही रहा है, उद्योग जगत भी सकते में हैं।

इस अशान्ति के कुछ नंगे सच आप लोगों के सामने लाना जरूरी है।

1. यहाँ लगभग सैकड़ों उद्योग कार्यरत हैं। जिन्हें कच्चा माल भी बाहर से लाना होता है और अपने उत्पाद को दूसरे क्षेत्रों में भी ले जाना पड़ता है जो उद्योग के इस प्रतियोगी समय में बहुत ही कठिन कार्य है।

2. आप सभी को मालूम है आवश्यक जनोपयोगी सभी वस्तुओं में बड़े घराने व विदेशी कम्पनियाँ भारत में आ चुकी है। इस कारण यहाँ के लघु उद्योगों को भारी मंदी के समय में अपने अस्त्वि की लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

3. श्रमिक कानून के नाम पर आवाज उठाने वाले संगठनों और महानुभावों को यह जानना चाहिए कि जब उद्योग व कारखाने रहेंगे तो ही श्रमिक व श्रमिक कानून रहेगा।

4. आपको सतर्क रहना होगा कि गोरखपुर में श्रमिक आन्दोलन के नाम पर कार्य कर रहे इस समूह का लक्ष्य है कि गोरखपुर के उद्योगों को बन्धक बनाने के बाद अपनी सफलता को यह ब्राण्ड उपलब्धि बनाकर चारों तरफ अशान्ति फैलायें।

5. गोरखपुर में कोई भी ऐसा उद्यमी नहीं है जो किसी श्रमिक से जबरदस्ती काम कराता हो या आपसी समझौते से कम पैसा देता हो।

6. गोरखपुर के सभी उद्योगों में जितने भी श्रमिकों को काम का अवसर दिया जाता है उन्हें किसी न किसी जानने वाले के सिफारिश पर बिना किसी योग्यता के काम दिया जाता है।

7. उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों के परिवार के ही अधिकांश श्रमिक उन्हीं के सिफारिश पर हर उद्योग में कार्य कर रहे हैं। औद्योगिक प्रबन्धन का इसी तरह सदैव मानवीय दृष्टिकोण रहता है। यह आपसी समझदारी और मानवीय दृष्टिकोण आज की स्थिति में गलतफहमी का कारण है।

8. श्रम कानून के अन्तर्गत काम करने की अवधि सामान्य रूप से आठ घण्टे होती है। इससे अधिक काम करने पर श्रमिक भाइयों को अतिरिक्त समय का अतिरिक्त पैसा मिलता है। इस तरह श्रमिक भाइयों की अच्छी खासी आय होती है और उनके समय का रचनात्मक उपयोग भी उनके व कारखाने के लिए होता है।

9. श्रमिक भाइयों के तथाकथित गैर श्रमिक नेता उनको बरगलाकर उनको आठ घण्टे काम करने के लिए बाध्य कर रहे हैं जिससे श्रमिक भाइयों की आमदनी प्रभावित होगी। इसके पीछे यह सच है कि उद्योग श्रमिक भाइयों से बारह-बारह घण्टे काम कराकर वहाँ कार्यरत श्रमिक को ही अधिक पैसे देते थे। आठ घण्टे काम करने के लिए अतिरिक्त मजदूरों की नियुक्ति करनी होगी। इसका और भी नंगा सच यह है कि ये गैर श्रमिक नेता प्रत्येक श्रमिकों से प्रतिमाह 100 रुपये वसूल करते हैं और जब मजदूरों की संख्या अधिक होगी तो ऐसे अराजक नेताओं की अतिरिक्त आमदनी होगी। विकास के रास्ते में सिर्फ कानून कायदा और कानून की बात करना नकारात्मक होता है।

10. आपको यह जानकर गम्भीर आश्चर्य होगा कि गैर श्रमिक तत्वों की आमदनी इस समय दो लाख रुपये प्रतिमाह से अधिक हो रही है और धीरे-धीरे इनके शिकंजे में जितने अधिक उद्योग व श्रमिक आयेंगे ये संख्या बढ़ाकर अपनी आमदनी बढ़ाते जायेंगे।

11. गोरखपुर कुछ वर्षों से शान्ति के माहौल में है पर माओवाद, नक्सलवाद की सम्भावनाएँ यहाँ इसलिए अधिक हैं क्योंकि नेपाल, बिहार का बार्डर भी है।

12. नक्सलवाद व माओवाद गरीबी, बेरोजगारी की जमीन पर ही अपनी पौध रोपते हैं इसकी कल्पना ही चिन्ता की बात है। ऐसे अशान्तियों से सम्भावनायें और भी बढ़ जाती हैं।

13. इन्हीं श्रमिक कानूनों के आड़ में पैदा गैर श्रमिक नेताओं के कारण ही गोरखपुर खाद कारखाना, सभी चीनी मिलें, कताई मिलें बन्द हो गयी। जिसके कारण बेरोजगारी और अपराध का ग्राफ बढ़ा।

14. तथाकथित गैर श्रमिक नेताओं ने श्रमिक भाइयों से कभी यह नहीं कहा कि अधिक काम करोगे तो अधिक पैसा कमाओगे। जहाँ काम कर रहे हो वहाँ वफादार रहो। उस क्षेत्र के विकास में हिस्सेदार रहो।

15. श्रमिक भाइयों के स्वास्थ्य, शिक्षा पर कोई बात नहीं की जाती है।

16. इन्हीं श्रम कानूनों के दुष्चक्र के कारण उत्पादन बढ़ाने और अनुशासन बनाये रखने के लिए ठेकेदारी प्रथा का प्रचलन हो रहा है।

आम जनमानस गरीबी व श्रमिकों के मामलों में सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाता है। इसके सच्चाई को जाने बिना भावनात्मक रूप से अपने विचार व्यक्त कर देता है। इसीलिए मैंने आपकी सेवा में आपके विचार के लिए उपरोक्त सच को सामने रखा है।

उद्योग रहेंगे तो रोजगार रहेगा, लाखों परिवार की रोटी, कपड़ा और मकान यहाँ के उद्योग व्यापार से ही मिलता है।

सरकार को भी यहाँ के उद्योगों से एक हजार करोड़ रुपये राजस्व के रूप में प्राप्त होता है जो सड़क, अस्पताल, स्कूल, पानी, यातायात आदि पर खर्च होता है। यह लोक कल्याणकारी है।

आप सोंचे, जानें व निर्णय करें

पवन बथवाल

संयोजक उद्योग बचाओ समिति

चेम्बर आफ इण्डस्ट्रीज, गोरखपुर

राष्ट्रीय सहारा, गोरखपुर संस्करण, 25 अक्टूबर 2009

देशभर से मज़दूर आन्दोलन के साथ खड़े हुए मज़दूर संगठन, नागरिक अधिकार कर्मी, बुद्धिजीवी और छात्र-नौजवान संगठन

गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन के समर्थन और इसके दमन के विरोध में देशभर में जितने बड़े पैमाने पर मज़दूर संगठन, नागरिक अधिकार कर्मी, बुद्धिजीवी और छात्र-नौजवान संगठन आगे आये उससे सत्ताधारियों को अच्छी तरह समझ आ गया होगा कि ज़ोरो- जुल्म के ख़िलाफ़ उठने वाले आवाज़ों की इस मुल्क में कमी नहीं है।

संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा के अपील पर बड़ी संख्या में ट्रेड यूनियनों, कर्मचारी संगठनों, नागरिक अधिकार संगठनों तथा बुद्धिजीवियों ने गोरखपुर के ज़िला प्रशासन और उत्तर प्रदेश शासन को विरोध पत्र भेजकर आन्दोलन के दमन की निन्दा की और मज़दूरों की माँगें पूरी कराने के लिए दबाव डाला। प्रसिद्ध कवयित्री और सामाजिक कार्यकर्ता कात्यायनी की पहल पर गठित 'गोरखपुर आन्दोलन समर्थक नागरिक मोर्चा' की अपील पर लेखकों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, जनाधिकार कर्मियों व सामाजिक संगठनों की ओर से डाक, फैक्स व ईमेल से सैकड़ों की संख्या में विरोध पत्र भेजे गये, सैकड़ों साथियों ने मुख्यमंत्री के नाम भेजे गये ज्ञापन पर हस्ताक्षर किये। अनेक शहरों में लोगों ने अपनी पहल पर हस्ताक्षर अभियान चलाकर शासन और प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर भेजे। बड़ी संख्या में शुभचिन्तकों और समर्थकों ने फोन करके अपना भरपूर समर्थन दिया और आन्दोलनकारियों की हौसलाआफ़ज़ाई की। आन्दोलन की आपाधापी में उन सभी का रिकार्ड रख पाना और सबके प्रति अलग-अलग आभार व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं रहा, लेकिन गोरखपुर के तमाम मज़दूरों की ओर से संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा और गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन समर्थक नागरिक मोर्चा उन सभी का आभारी है जिन्होंने अन्याय के विरुद्ध इस लड़ाई में अपनी आवाज़ मिलायी।

दिल्ली में विभिन्न संगठनों एवं बुद्धिजीवियों ने मुख्यमंत्री मायावती के नाम भेजे गए ज्ञापन में कहा कि जनान्दोलनों के दमन के लिए प्रशासन द्वारा "नक्सलवाद" को बहाना बनाने का हथकण्डा कतई बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा कि प्रशासन और उद्योगपति ये न समझें कि मजदूर अकेले पड़ गये हैं। मजदूर आन्दोलन के बर्बर दमन के विरुद्ध सारे देश के बुद्धिजीवी मिलकर अभियान चलायेंगे।

ज्ञापन पर प्रसिद्ध लेखिका अरुन्धति राय, सुप्रीम कोर्ट के अधिवक्ता प्रशान्त भूषण, फिल्मकार संजय काक, एनडीटीवी के वरिष्ठ पत्रकार हृदयेश जोशी, प्रसिद्ध पत्रकार जावेद नकवी, 'द हिन्दू' के विशेष संवाददाता वेंकटेश रामकृष्णन, वरिष्ठ पत्रकार गौतम नौलखा, प्रसिद्ध लेखक विष्णु खरे सहित दिल्ली विश्वविद्यालय शिक्षक संघ के प्रो. विजय सिंह, पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स के प्रो. हरीश धवन, रैडिकल नोट्स ग्रुप के प्रत्यूष चन्द्रा, संहति के पार्थसारथि रे, जनमुक्ति संघर्ष वाहिनी के अरविन्द अंजुम, ऑल इण्डिया कोऑर्डिनेशन कमिटी ऑफ़ ट्रेड यूनियन्स के अर्द्धेन्दु राय, दिल्ली विश्वविद्यालय के डा. मुकुल मांगलिक, आईआईटी दिल्ली की डा. पृथा चंद्रा, न्यू सोशलिस्ट इनिशिएटिव के नवीन, छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के दीपक, नारी मुक्ति संस्था की सुनीता कुमारी, सहेली की डा. कल्पना मेहता, सीएसडीएस दिल्ली के असित, टीआईएफ़आर के सुब्रत राजा, जामिया मिलिया के डा. रविकुमार, हिन्दुस्तान टाइम्स की वरिष्ठ पत्रकार पारोमिता घोष, दैनिक हिन्दुस्तान के पत्रकार संजीव माथुर, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ यू.एस.ए. की जेस्सी न्यूट्सन, सीपीआई-एमएल (न्यू प्रोलेतारियन) के डा. शिवमंगल सिद्धान्तकर, श्रीराम कॉलेज ऑफ़ कॉमर्स के शिक्षक राकेश रंजन, ग्रीन फ्लैग वर्कर्स यूनियन के प्रमोद, जे.एन.यू की डा. ममता बोरा सहित सौ से अधिक लोगों ने हस्ताक्षर किये। इसके अलावा वरिष्ठ पत्रकार आनन्दस्वरूप वर्मा, रामकृष्ण पाण्डेय, सुरेश नौटियाल, इकोनॉमिक टाइम्स के अरविन्द दास, वरिष्ठ स्तम्भकार सुभाष गाताड़े, यूएनआई वर्कर्स यूनियन के महासचिव राजेश कुमार, बिज़नेस भास्कर के उर्मिलेश, स्वतंत्र मिश्र, दैनिक जागरण के विवेक त्यागी, हिन्दुस्तान के अनुराग त्यागी, लोकराज संगठन के बीजू नायक आदि ने मज़दूर आन्दोलन के दमन की कड़ी निन्दा की और आन्दोलन को पुरज़ोर समर्थन दिया।

वरिष्ठ कवि और 'अलाव' के सम्पादक रामकुमार कृषक ने मुख्यमंत्री के नाम भेजे ज्ञापन में मज़दूर नेताओं को तत्काल रिहा करने की माँग की। वरिष्ठ चित्रकार व लेखक हरिपाल त्यागी, कथाकार महेश दर्पण, वीरेन्द्र जैन आदि ने भी दमन की कठोर निन्दा की। अलवर से वरिष्ठ लेखक सुरेश पण्डित ने ज्ञापन पर बड़ी संख्या में हस्ताक्षर कराकर भेजे, तो बाँदा से डा. प्रमोद शिवहरे ने अपने कालेज के छात्रों के बीच हस्ताक्षर अभियान चलाकर प्रदेश सरकार को ज्ञापन भेजा। बदायूँ से युवा लेखक डा. शालीन कुमार सिंह ने ईमेल और अपने ब्लॉग के ज़रिये हज़ारों की संख्या में लोगों को आन्दोलन की ख़बरों से लगातार वाकिफ़ कराया और समर्थन जुटाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पॉडिचेरी से डा. अजु मुखोपाध्याय ने मुख्यमंत्री के नाम ज्ञापन भेजा। 'मोहल्ला लाइव' के अविनाश और 'आखर' के चन्द्रपाल ने अपनी वेबसाइट के ज़रिये आन्दोलन की ख़बरों को व्यापक समुदाय तक पहुँचाने में मदद की।

पटना में 'मज़दूर' अखबार के सम्पादक सतीश कुमार तथा ग्रामीण मज़दूर यूनियन, बिहार के नेता अशोक ने मज़दूर नेताओं को फ़ौरन रिहा करने तथा मज़दूरों की माँगें पूरी करने की माँग की।

जयपुर में लोक सम्पत्ति संरक्षण संगठन के अध्यक्ष श्री पी.एन. मैन्दोला ने अपने संगठन की ओर से उत्तर प्रदेश सरकार को भेजे ज्ञापन में दोषी अधिकारियों के ख़िलाफ़ कड़ी कार्रवाई की माँग की।

मुम्बई में एडमिरल विष्णु भागवत ने स्वयं मज़दूर आन्दोलन के दमन की निन्दा करने के साथ ही उत्तर प्रदेश में विभिन्न संगठनों को फोन करके प्रशासन पर दबाव डालने की अपील की। मुम्बई पत्रकार संघ के एम.जे. पाण्डे और यू.एन.आई. इंप्लाइज़ फ़ेडरेशन के महासचिव सी.पी. झा ने मज़दूर नेताओं को अविलम्ब रिहा करने और उनकी माँगें मानने की माँग की। मुम्बई के वरिष्ठ पत्रकार विजयप्रकाश सिंह ने हस्ताक्षर अभियान चलाकर ज्ञापन भेजा।

लखनऊ में विभिन्न संगठनों ने प्रेस क्लब से जुलूस निकाला तथा जीपीओ स्थित गाँधी प्रतिमा पर धरना दिया। मुख्यमंत्री को दिये गये ज्ञापन में मज़दूर नेताओं की बर्बर पिटाई करने वाले अधिकारियों को तत्काल निलम्बित कर जाँच कराने की भी माँग की गई। ज्ञापन पर वरिष्ठ पत्रकार एवं पीयूसीएल की सचिव वन्दना मिश्रा, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो. रमेश दीक्षित, उच्च न्यायालय के अधिवक्ता सी.बी. सिंह, वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना, जन संस्कृति मंच के कौशल किशोर, एपवा की विमला किशोर एवं शोभा सिंह, युवा भारत की लता राय, राहुल फाउण्डेशन की अध्यक्ष कात्यायनी, अलग दुनिया के श्री के.के. वत्स, दिशा छात्र संगठन के अभिनव, नौजवान भारत सभा के राकेश, दीपक, शालिनी, कलाकार रामकरण, चित्रकार रामबाबू सहित डेढ़ सौ से अधिक लोगों ने हस्ताक्षर किए।

लुधियाना में विभिन्न संगठनों की आपात बैठक में प्रस्ताव पारित कर गोरखपुर के मजदूर आन्दोलन का दमन करनेवाले अधिकारियों के विरुद्ध कार्रवाई के लिए मुख्यमंत्री को ज्ञापन भेजा गया।

ज्ञापन पर शहीदेआज़म भगतसिंह के भांजे एवं जनवादी अधिकार सभा पंजाब के सचिव प्रो. जगमोहन सिंह, कारख़ाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना के संयोजक राजविन्दर, मोल्डर एंड स्टील वर्कर्स यूनियन के प्रधान विजय नारायण, इंकलाबी केंद्र पंजाब के सचिव जसवन्त जीरख, लोकमोर्चा पंजाब के सचिव कस्तूरी लाल, डेमोक्रेटिक टीचर्स फ्रंट के नेता मास्टर

(पेज 2 पर जारी)

गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन ने नयी राजनीतिक हलचल पैदा की

गोरखपुर। श्रमिक अधिकार समर्थक समिति की ओर से 'श्रमिक अधिकार और नागरिक समाज का दायित्व' विषय पर 1 अक्टूबर को आयोजित संगोष्ठी में वक्ताओं ने कहा कि बरगदवां के मज़दूर आन्दोलन ने गोरखपुर में काफ़ी समय से व्याप्त अराजनीतिक माहौल को तोड़कर एक नयी राजनीतिक हलचल पैदा की है। वक्ताओं का मानना था कि इस आन्दोलन ने मज़दूरों के मुद्दों को पुरज़ोर ढंग से समाज के सामने रखने का बड़ा काम किया है। अधिकांश वक्ताओं का कहना था कि मुख्यधारा के मीडिया और मध्यवर्गीय शिक्षित आबादी की नज़रों से मज़दूरों के हालात और उनकी समस्याएँ प्राय: छिपी ही रहती हैं। लेकिन पिछले कुछ महीनों के दौरान इस आन्दोलन ने लोगों को इन सवालों पर सोचने के लिए मजबूर कर दिया।

गोष्ठी में शहर के बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, ट्रेडयूनियन कर्मियों, वामपन्थी संगठनों और नागरिक अधिकार संगठनों के प्रतिनिधियों ने भागीदारी की। वक्ताओं ने एक स्वर से शासन और प्रशासन से श्रम क़ानून लागू कराने की माँग की तथा मज़दूर आन्दोलन के ख़िलाफ़ उद्योगपतियों की ओर से किये जा रहे दुष्प्रचार की कड़ी निन्दा की।

गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए पीयूसीएल गोरखपुर के संयोजक फतेहबहादुर सिंह ने कहा कि इस आन्दोलन से पैदा हुई राजनीतिक हलचल को आगे बढ़ाना होगा। गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष डॉ. अनन्त मिश्र ने कहा कि मज़दूरों के उत्पीड़न के विरुद्ध समाज के जागरूक नागरिकों को एकजुट होना होगा। राजनीतिशास्त्र विभाग के डा. रजनीकान्त पाण्डेय ने कहा कि आज सत्ता खुलकर मज़दूरों और आम आदमी के ख़िलाफ़ खड़ी है। इसके विरुद्ध पूरे समाज को खड़ा होना होगा। उन्होंने कहा कि गोरखपुर की जनता का बहुमत मज़दूर आन्दोलन के साथ है।

विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डॉ. अनिल राय ने मज़दूर आन्दोलनों के सम्बन्ध में मीडिया की भूमिका पर सवाल खड़े किये। डा. जर्नादन ने मज़दूरों को उनका हक दिलाने के लिए नागरिक समाज के लोगों से आगे आने की अपील की। डा. असीम सत्यदेव ने कहा कि जब मज़दूर अधिकार सुरक्षित रहेंगे तभी नागरिक अधिकारों की भी रक्षा हो सकेगी।

मेडिकल रिप्रेजेंटेटिव्स एसोसिएशन के सचिव राकेश श्रीवास्तव ने कहा कि श्रम क़ानूनों को लागू कराना प्रशासन की ज़िम्मेदारी है। रेल मज़दूरों के नेता मुक्तेश्वर राय और राम सिंह ने बरगदवां के मज़दूर आन्दोलन के प्रति एकजुटता ज़ाहिर करते हुए कहा कि श्रम कानूनों को लागू कराने के लिए मिलकर लड़ना होगा। मानवाधिकार कार्यकर्ता मनोज कुमार सिंह ने श्रमिक अधिकारों पर हो रहे हमले को मानवाधिकारों पर हमला बताया। चतुरानन ओझा ने कहा कि जन प्रतिनिधियों का श्रमिक अधिकारों के ख़िलाफ़ खड़ा होना गम्भीर मामला है।

कथाकार मदनमोहन, चक्रपाणि, भाकपा के ओमप्रकाश चन्द, माकपा के जावेद, भाकपा (माले) के हरिद्वार प्रसाद, अयोध्या साहनी आदि ने भी मज़दूर आन्दोलन के पक्ष में नागरिक समाज के खुलकर आगे आने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा की ओर से तपीश मैन्दोला ने आन्दोलन के दौरान गोरखपुर के नागरिक समाज के समर्थन के लिए धन्यवाद देते हुए कहा कि आने वाले समय में हमें ऐसे आन्दोलनों के दमन का प्रतिरोध करने के लिए तैयार रहना होगा। संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन डा. रामू दुबे ने किया और संचालन श्रमिक अधिकार समर्थक समिति के संयोजक यशवन्त सिंह ने किया।

– बिगुल संवाददाता

सबसे ज्यादा जुझारू तेवर के साथ अन्त तक डटी रहीं स्त्री मज़दूर

गोरखपुर के मज़दूर आन्दोलन ने इतिहास के इस सबक को एक बार फिर साबित कर दिया कि आधी आबादी को साथ लिये बिना मज़दूर वर्ग की मुक्ति असम्भव है। इस आन्दोलन में स्त्री मज़दूरों ने बहादुराना संघर्ष किया और उनके जुझारू तेवर और एकजुटता ने मालिक-प्रशासन के गँठजोड़ को छठी का दूध याद दिला दिया। पवन बथवाल एंड कम्पनी को लगता था कि हमेशा चुपचाप सहन कर जाने वाली स्त्री मज़दूरों को दबाना-धमकाना आसान होगा, लेकिन इस आन्दोलन में उनके होश ठिकाने आ गये। हालत यह हो गई थी कि बथवाल स्त्री मज़दूरों को काम पर वापस नहीं लेने पर अड़ गया। उसे समझ आ गया था कि स्त्री मज़दूरों के जुझारू तेवर को दबाना सम्भव नहीं है।

अपने साथी पुरुष मज़दूरों और मज़दूर नेताओं का ध्यान रखने में भी वे सबसे आगे रहीं। जब तक आन्दोलन चलता रहा तब तक अपने घरों से खाना बनाकर लाने के अलावा धरना स्थल पर लिट्टी-चोखा बनाने की ज़िम्मेदारी भी वे मुस्तैदी से निभाती रहीं। एक स्त्री मज़दूर के पति ने जब ढुलमुल रवैया अपनाते हुए मालिकों का पक्ष लिया और आन्दोलन से अलग हो गया, तो उन्होंने घर पर खाना बनाना ही बन्द कर दिया। उन्होने ऐलान कर दिया कि जब तक तुम इस आन्दोलन में अपने मज़दूर भाइयों का साथ नहीं दोगे, तब तक मैं खाना नहीं बनाऊंगी।

इस आन्दोलन में मॉडर्न के दोनों कारख़ानों की दो दर्जन स्त्री मज़दूर शामिल थीं। सैकड़ों पुरुष मज़दूरों के मुकाबले संख्या में कम होने के बावजूद अपने जुझारूपन के कारण उनकी मौजूदगी बहुत असरदार होती थी और कभी-कभार कमज़ोर पड़ जाने वाले पुरुषों को भी वे ललकारने का काम करती थीं। कुछेक पुरुष मज़दूर कभी-कभी धरना-प्रदर्शन में नहीं भी आते थे, लेकिन कोई स्त्री मज़दूर न पहुँचे ऐसा बिरले ही कभी होता था।

जिस दिन बातचीत के बहाने चार मज़दूर नेताओं को मारा-पीटा और गिरफ्तार किया गया, उस दिन स्त्री मज़दूरों ने आसानी से मज़दूर नेताओं को वहाँ से ले जाने नहीं दिया। उन्होंने एडीएम सिटी की गाड़ी को घेर लिया और उसके आगे लेट गयीं। बड़ी मशक्कत से पुलिसवालों ने उन्हें वहाँ से उठा-उठाकर फेंका तब वे गाड़ी लेकर निकल सके। इसके बाद पुलिस ने बल प्रयोग करके अधिकांश पुरुष मज़दूरों को तितर-बितर कर दिया लेकिन स्त्रियाँ वहीं डटी रहीं। उन्हें घसीट-घसीट कर वैन में बिठाया गया। थाने ले जाकर उन्हें जैसे ही छोड़ा गया, उन्होंने थाने का घेराव कर दिया और अपने साथियों की रिहाई की माँग करने लगीं। पुलिस वालों को उन्हें घसीटकर वैन में बिठाकर दूर ले जाकर छोड़ना पड़ा। गिरफ्तार नेताओं की रिहाई के लिए दो दिन बाद शुरू हुए अभियान में भी वे अन्य मज़दूरों के कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ीं और अन्त तक डटी रहीं। अपने नेताओं की गिरफ़्तारी से स्त्री मज़दूर इतने गुस्से में थीं कि कलक्ट्रेट में कई बार उन्होंने डीएलसी सहित पुलिस-प्रशासन के तमाम अधिकारियों को कसकर लताड़ लगाई और वे चुपचाप सुनते रहे।

– सन्दीप

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें? (पाँचवीं किश्त)

● अभिनव

भारतीय समाज में फ़ासीवाद की ज़मीन और उसके सामाजिक अवलम्ब

जर्मनी में फ़ासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन की चर्चा करते हुए हमने बताया था कि किसी पूँजीवादी क्रान्ति, किसी क्रान्तिकारी भूमि सुधार और एक क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग की अनुपस्थिति; दो दशकों के भीतर अचानक तेज़ी से हुए अभूतपूर्व पूँजीवादी विकास और औद्योगिकीकरण के कारण बड़े पैमाने पर मज़दूरों का उजड़ना, बेरोज़गारी का बढ़ना, ग़रीबी का बढ़ना, असुरक्षा का बढ़ना, निम्न-पूँजीपति वर्ग का उजड़ना; किसी क्रान्तिकारी विकल्प के मौजूद न होने और सामाजिक जनवादियों द्वारा मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद की गलियों में भटकाते रहना और इसके कारण समाज में प्रतिक्रिया का आधार पैदा होना; बड़े पूँजीपति वर्ग का संकट की स्थिति में किसी नग्न बुर्जुआ तानाशाही की ज़रूरत और इसके कारण नात्सी पार्टी का समर्थन करना; समाज में जनवादी मूल्यों और संस्कृति का अभाव; क्रान्तिकारी भूमि सुधार न होने के कारण बड़े भूस्वामियों (युंकरों) के एक धुर प्रतिक्रियावादी वर्ग की मौजूदगी; एक प्रतिक्रियावादी मँझोले किसान वर्ग की मौजूदगी आदि ही वे कारण थे जिन्होंने जर्मनी में नात्सी पार्टी को सत्ता में पहुँचाया। इटली में औद्योगिक विकास जर्मनी के मुक़ाबले काफ़ी कम था। उत्तरी इटली में कुछ औद्योगिक विकास हुआ था और वहाँ भी यह विकास बेहद द्रुत गति से हुआ था जिसने समाज में मज़दूर और निम्न-पूँजीपति वर्ग को उजाड़ने के कारण समाज में एक आम असुरक्षा का माहौल पैदा किया था। दूसरी ओर दक्षिणी इटली था जहाँ पर बड़े ज़मींदारों की बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, जिन्हें लातीफ़ुंदिया कहा जाता था। ये ज़मींदार भयंकर प्रतिक्रियावादी थे और इन्होंने शुरुआत में फ़ासीवादियों से अन्तरविरोध के बावजूद बाद में उनका पूरा साथ दिया। इटली में कम्युनिस्टों ने एक शानदार आन्दोलन चलाया और समाजवादी क्रान्ति के निकट तक पहुँचे। लेकिन अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह के कारण वह सफल नहीं हो पाया। तमाम शहरों में मज़दूरों की परिषदें खड़ी हुईं लेकिन उन्हें कुचल दिया गया। दूसरे इण्टरनेशनल में एक बार लेनिन ने इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि मण्डल से क़ाफ़ी क्षुब्ध होकर कहा था कि "क्रान्ति को पैदा करना होता है, यह उस तरह नहीं आती जैसे आप लोग उसे लाना चाहते हैं।" लेनिन का इशारा इसी अपरिपक्वता की तरफ़ था जिसके कारण इटली में आसन्न क्रान्ति को कम्युनिस्ट अंजाम नहीं दे सके। दूसरी तरफ़ इटली में समाजवादियों ने मज़दूर आन्दोलन के साथ वही किया जो जर्मनी में सामाजिक जनवादियों ने मज़दूर आन्दोलन के साथ किया था – ट्रेड यूनियनवाद, अर्थवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और सुधारवाद।

भारत में वे दोनों ही ज़मीनें मौजूद थीं जिन्होंने जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी उभार को जन्म दिया। यहाँ पर जर्मनी जैसा औद्योगिक विकास है और दक्षिणी इटली जितना पिछड़ा कोई इलाक़ा तो नहीं है मगर प्रशियाई मार्ग से हुए क्रमिक भूमि सुधारों के कारण युंकरों जैसा एक भूस्वामी वर्ग मौजूद है। इसके अलावा भारत में एक नया धनी किसान वर्ग भी है जो हरित क्रान्ति के बाद पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, और कई अन्य प्रान्तों में पैदा हुआ है। यह धनी किसान वर्ग व्यवस्था समर्थक है और इसकी व्यवस्था से रार सिर्फ़ इस बात पर होती है कि वह कृषि उत्पादों का अधिक मूल्य पाना चाहता है। अपनी इस माँग पर वह मँझोले और ग़रीब किसान को भी अपने साथ लेने में अक्सर सफल हो जाता है। चरण सिंह के दौर तक यह धनी किसान और युंकर वर्ग चरण सिंह के साथ रहा। **लेकिन चरण सिंह के दौर के बाद यह या तो क्षेत्रीय पार्टियों जैसे तेलुगूदेशम, समाजवादी पार्टी, आदि का आधार बना और या फिर भाजपाई फ़ासीवाद का।** यह भी ग़ौरतलब है कि ये सभी किसानी क्षेत्रीय पार्टियाँ कई मौक़ों पर फ़ासीवाद का ही साथ देती हैं। दरअसल जर्मनी और इटली में भी यही हुआ था। ऐसे सभी दलों ने फ़ासीवादी पार्टी या नात्सी पार्टी का साथ दिया था। युंकरों, धनी किसानों और मँझोले और यहाँ तक कि ग़रीब किसानों तक का एक हिस्सा फ़ासीवाद का समर्थक बनता है। इसके दो प्रमुख कारण समझ में आते हैं, हालाँकि अलग-अलग क्षेत्रों में और कारण भी हो सकते हैं। **पहला कारण** है किसान वर्ग की पीछे देखने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति। किसान वर्ग का कोई प्रगतिशील या भविष्योन्मुखी 'यूटोपिया' या स्वप्न नहीं होता। पूँजीवादी विकास के साथ किसानों का एक बड़ा हिस्सा उजड़ता है। ऐसे में वह स्वत:स्फूर्त तरीक़े से पूँजीवादी समाज के भीतर अपने सर्वहाराकृत हो जाने की नियति को नहीं समझता। अपने से तो वह ज़मीन के बचे-खुचे टुकड़े से चिपके रहना ही चाहता है (जो वास्तव में उसे कुछ नहीं देता)। वह अतीत के उन दिनों के बारे में बहुत लगाव के साथ सोचता है जब जीवन में पूँजीवादी गलाकाटू प्रतिस्पर्धा नहीं थी और वह अपने खेत पर चैन से गुज़र करता था (फिर से, ऐसा अतीत कभी था नहीं, यह उसकी रूमानी कल्पनाओं में ही होता है)। जब भी कोई पुनरुत्थानवादी ताक़त अतीत की ओर पश्चगमन के नारे देती है, स्वदेशी का राग अलापती है और इस सारी लफ़्फ़ाज़ी को धर्म की चाशनी में लपेटती है तो वह बरबादी की कगार पर खड़े किसानों समेत मँझोले और धनी किसानों को बहुत रुचता है। **दूसरा कारण** होता किसानी जीवन का सांस्कृतिक पिछड़ापन। फ़ासीवादी ताक़तें किसानों के जीवन और संस्कृति में जनवादी मूल्यों की कमी, पिछड़ेपन और निरंकुशता का पूरा लाभ उठाती हैं और उन्हें सहयोजित करती हैं, यानी अपना लेती हैं। **फ़ासीवाद एक आधुनिक विचारधारा है जो पुरातनपन्थी और आधुनिकता-विरोधी, जनवाद और समानता विरोधी विचारों का अवसरवादी इस्तेमाल करते हुए एक आधुनिक क़िस्म की राजसत्ता की स्थापना करता है और सबसे नग्न किस्म की तानाशाही को लागू करके पूँजीवादी हितों की रक्षा करता है।** किसानों के इन विभिन्न संस्तरों को, जो फ़ासीवाद का सम्भावित सामाजिक आधार हो सकते हैं, आप ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग के रूप में गिन सकते हैं। यह वर्ग 1980 के दशक के मध्य से भाजपा का समर्थक बनने लगा था। उस समय तक चरण सिंह की राजनीति हाशिये पर जा चुकी थी और धनी किसान हितों को बुर्जुआ जनवादी फ़्रेमवर्क के भीतर पेश करने वाली कोई प्रभावी ताक़त राष्ट्रीय पैमाने पर मौजूद नहीं थी। भाजपा ने इसी ख़ालीपन का लाभ उठाते हुए धनी किसान लॉबी को अपने साथ लेना शुरू किया और किसानों के सभी संस्तरों के बीच अपना फ़ासीवादी प्रचार शुरू किया।

ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग के अतिरिक्त शहरों का निम्न-पूँजीपति वर्ग भी फ़ासीवाद का ज़बर्दस्त समर्थक होता है। बल्कि यों कहें की **फ़ासीवाद का सबसे ताक़तवर और परम्परागत सामाजिक आधार यही वर्ग मुहैया कराता है।** इस वर्ग में छोटे पूँजीपति, दुकानदार, दलाल, एजेण्ट, निम्न माल उत्पादन करने वाले छोटे उत्पादक, सरकारी वेतनभोगी वर्ग, कर्मचारी वर्ग और सफ़ेद कॉलर वाले वे मज़दूर होते हैं जिन्हें मज़दूर अभिजात्य वर्ग कहा जा सकता है। 1980 के दशक के पहले यह पूरा वर्ग कांग्रेस का परम्परागत समर्थक रहा था। उस समय तक सार्वजनिक क्षेत्र के पूँजीवाद का ज़माना था। नेहरू के ज़माने की परछाइयाँ अभी पूरी तरह से धूमिल नहीं हुई थीं। आज़ादी के बाद समृद्धि, प्रगति और विकास के जो सपने सार्वजनिक क्षेत्र, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, और "समाजवाद" और कल्याणकारी राज्य के नारे के साथ दिखलाये गये थे, वे टूटने शुरू हो चुके थे लेकिन अभी ग़ायब नहीं हुए थे। 1980 के दशक के मध्य तक भारतीय पूँजीवाद सार्वजनिक क्षेत्र की चौहद्दी के भीतर बड़ा होते-होते कसमसाने लगा था। 1947 से 1980 तक के दौर में पब्लिक सेक्टर भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत थी। गुलामी से बौने और अधमरे हुए यहाँ के पूँजीपति वर्ग को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए पहले राज्य को ही एक बड़े पूँजीपति की भूमिका निभानी थी। यही समय इंस्पेक्टर राज और लाइसेंसी राज का था। बाद में सार्वजनिक क्षेत्र का यह पिंजड़ा, जो पहले पूँजीपति वर्ग की सुरक्षा के लिए बनाया गया था, उसके आगे विकास में बाधक बनने लगा। भारतीय निजी पूँजी अब इस पिंजड़े में ठीक से साँस नहीं ले पा रही थी और उसे खुले बाज़ार और खुली प्रतिस्पर्धा की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। अगर यह नहीं होता तो वह पूँजी के जीवन के लिए घातक होता। नतीजतन, भारतीय पूँजीपति वर्ग के नुमाइन्दे भारतीय राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्र, विनियमन, लाइसेंसी राज, इंस्पेक्टर राज की दीवारों को गिराना शुरू किया। जब तक कल्याणकारी पब्लिक सेक्टर वाले राज्य का ढाँचा क़ायम था, जीवन निम्न-पूँजीपति वर्ग के लिए अपेक्षाकृत आसान था और असुरक्षा और अनिश्चितता उसके लिए उतनी अधिक नहीं थी। लेकिन ज्यों ही उदारीकरण और निजीकरण की नीतियाँ लागू होनी शुरू हुईं वैसे ही उसकी आँच इन वर्गों तक भी पहुँचने लगी। कम ही लोग जानते हैं कि भारतीय पूँजीवादी राज्य ने पहली बार 'नई आर्थिक नीति' के जुमले का इस्तेमाल 1991 में नरसिंह राव-मनमोहन सिंह की सरकार के दौरान नहीं किया था। 1985 में राजीव गाँधी की सरकार के दौरान पहली बार नई आर्थिक नीति का नाम लिया गया और उदारीकरण और निजीकरण को शुरू करने की बात की गयी। राजीव गाँधी तमाम सभाओं और जमावड़ों में लाइसेंसी राज और इंस्पेक्टर राज को विकास-विरोधी करार देते थे और उदारीकरण करने की ओर इशारा करते थे। 1986 में नयी शिक्षा नीति द्वारा इसी काम को आगे बढ़ाया गया। इसके बाद 1991 में यह प्रक्रिया सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद के भयंकर आर्थिक संकट के बाद पूँजीपति वर्ग ने खुलेआम शुरू की। इसके सूत्रधार थे तत्कालीन वित्त मन्त्री मनमोहन सिंह जो आज देश के प्रधानमन्त्री हैं। तब से लगभग 18 वर्ष बीत चुके हैं। लेकिन नयी आर्थिक नीति की शुरुआत 1980 के दशक के मध्य को माना जाना चाहिए। अगर हम ऐसा मानते हैं तो उदारीकरण की नीतियों को लागू होने की शुरुआत हुए क़रीब 25 वर्ष बीत चुके हैं। इस दौरान पूरे देश में ग़रीबी और बेरोज़गारी अभूतपूर्व रफ़्तार से बढ़ी है। 1980 के दशक के आते-आते मध्यम वर्ग और निम्न-पूँजीपति वर्ग और साथ ही आम जनता के सभी सपने भी धूल-धूसरित होने लगे थे जिसने पूरी आम जनता में एक हताशा और निराशा को जन्म दिया था। स्वदेशी और छोटे उद्योग-धन्धों के हित की बात करते हुए भाजपा ने भी अपनी गठबन्धन सरकार के काल में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को तेज़ रफ़्तार से लागू किया। बल्कि भाजपा के नेतृत्व में ही पहली बार **विनिवेश मन्त्रालय अरुण शौरी** के नेतृत्व में बनाया गया, जिसे कायदे से निजीकरण-बेरोज़गारी मन्त्रालय कहा जाना चाहिए। छोटी पूँजी की बात करते हुए भाजपा ने बड़ी पूँजी की किसी भी पार्टी से ज़्यादा चाकरी की। ऐसे में फ्रांसीसी मार्क्सवादी इतिहासकार **डेनियल गुएरिन** का वह कथन बरबस ही याद आता है – **"फ़ासीवाद न सिर्फ़ बड़ी पूँजी का चाकर होता है, बल्कि साथ ही यह टुटपुंजिये वर्ग का रहस्यवादी उभार भी होता है।"** भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के 25 वर्षों ने बड़े पैमाने पर छोटे पूँजीपति वर्ग को उजाड़ा, छोटे पैमाने के उत्पादकों, दुकानदारों, वेतनभोगियों को उजाड़ा और साथ ही ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग को भी उजाड़ा है। बड़े पैमाने पर लोग सड़कों पर आ गये और जो सड़कों पर नहीं आये, उनके सिर पर भी लगातार छँटनी और तालाबन्दी, नौकरी से निकाल दिये जाने, ठेके पर कर दिये जाने की तलवार लटकी रहती है। यानी पूरे निम्न-पूँजीपति वर्ग के सामने भविष्य की असुरक्षा और अनिश्चितता बेहद तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। ऐसे में यदि कोई क्रान्तिकारी ताक़त आम जनता और इन वर्गों में इस बात को बिठाने के लिए मौजूद नहीं है कि इस सारी असुरक्षा और अनिश्चितता का असली ज़िम्मेदार पूँजीवाद है और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर निम्न-पूँजीपति वर्ग की यही नियति है कि उसके मुट्ठी भर हिस्से को ऊपर की ओर जाना है और बाकी विशाल हिस्से को सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की कतार में शामिल हो जाना है, तो निश्चित रूप से उसके भीतर एक प्रतिक्रिया की ज़मीन भी मौजूद रहती है जो लम्बी असुरक्षा और अनिश्चितता के कारण पैदा हुई चिड़चिड़ाहट और हताशा से तैयार होती है। इसी ज़मीन का फ़ायदा फ़ासीवादी ताक़तें उठाती हैं और उन्होंने भारत में भी उठाया। इस पूरे गुस्से का निशाना संघ ने अल्पसंख्यकों को और विशेषकर मुसलमानों और शरणार्थियों को बनाया। गतिरोध की स्थिति में जनता के गुस्से को अतार्किक और प्रतिक्रियावादी रास्ते पर ले जाना फ़ासीवादियों के लिए ख़ास तौर पर आसान होता है। संघ इसकी पृष्ठभूमि तो अपने जन्म के बाद से ही तैयार कर रहा था। अपनी शाखाओं, संस्कृति केन्द्रों, शिशु मन्दिरों में लगातार मुसलमानों को अतीत से लेकर वर्तमान तक हिन्दुओं की सारी तकलीफ़ों का ज़िम्मेदार बताया जा रहा था। **1980 के बाद दिमाग़ों में बोये गये ज़हर के इस बीज के अंकुरित होने के लिए सभी अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार होने लगीं।** यही कारण है कि संघ की मौजूदगी तो आज़ादी के बाद से लगातार बनी रही थी और साम्प्रदायिक तनाव फैलाने में हमेशा उसकी भूमिका रही थी, लेकिन 1980 के पहले तक संघ को एक ब्राह्मण-बनिया संगठन के रूप में जाना जाता था। लेकिन 1980 के बाद संघ की अपील कहीं ज़्यादा व्यापक हुई और फ़ासीवाद का उभार एक परिघटना के रूप में वास्तविकता बनकर उभरा। रामजन्मभूमि आन्दोलन, रथयात्राओं, बाबरी मस्जिद ध्वंस, 1991 के संकट के बाद और 1995 तक उदारीकरण-निजीकरण के विनाशकारी परिणामों के बाद भारत में फ़ासीवादी आन्दोलन हिन्दुत्ववाद, स्वदेशीवाद और राष्ट्रवाद के चोंगे में कहीं ज़्यादा ताक़तवर होकर उभरा। 1980 के बाद फ़ासीवाद का एक आन्दोलन की शक्ल में आना कोई संयोग नहीं था। (**यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि 'आन्दोलन' शब्द का उपयोग हमेशा ऐसे किया जाता है मानो वह कोई अनिवार्य रूप से सकारात्मक वस्तु हो, जबकि इस शब्द में ऐसा कुछ नहीं है जो इसे अपने आप में सकारात्मक बना देता हो। यह निर्भर करता है वह आन्दोलन किसका है और किसके नेतृत्व में है।**) यह आर्थिक और भौतिक तौर पर फ़ासीवाद की ज़मीन के मज़बूत होने के कारण आन्दोलन की शक्ल अख़्तियार कर पाया था।

उदारीकरण और निजीकरण के एक चौथाई दशक ने भारतीय समाज में भी लोगों को बड़े पैमाने पर अपनी जगह-ज़मीन और काम-धन्धे से

(पेज 13 पर जारी)

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

(पेज 12 से आगे)

उजाड़कर वैसी ही असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल निम्न-पूँजीपति वर्ग, मज़दूर वर्ग और अन्य मध्यम वर्गों में पैदा किया जो जर्मनी में 20 वर्षों के द्रुत औद्योगिकीकरण के बाद पैदा हुआ था। यह सच है कि इस प्रक्रिया का पैमाना उतना ज़्यादा नहीं था जितना कि यह जर्मनी में था। कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तकार यह बात समझ नहीं पाये हैं। ऐसे ही एक सिद्धान्तकार **प्रभात पटनायक** और उन्हीं के साथ **एजाज़ अहमद** इस तथ्य पर काफ़ी चकित दिखलायी पड़ते हैं कि भारत में औद्योगिकीकरण उतना द्रुत तो था नहीं जितना कि वह जर्मनी में था (नतीजतन, भारत में बेरोज़गारी, उजड़ना और ग़रीबी भी उतनी तेज़ रफ़्तार से नहीं पैदा हुई थी जितनी तेज़ रफ़्तार से जर्मनी में (फिर भारत में इसने फ़ासीवादी उभार को जन्म कैसे दिया? लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि भारत के औपनिवेशिक इतिहास के कारण भारतीय समाज को दीर्घकालिक और भयंकर रूप से पैठी हुई ग़रीबी और बेरोज़गारी विरासत में मिली थी। यहाँ पर ग़रीबी और बेरोज़गारी पहले से ही जड़ जमाये हुए थी जिसे निजीकरण और उदारीकरण ने और भयंकर रूप दे दिया। जर्मनी या इटली के समाज की तरह ये समस्याएँ किसी एक औद्योगिकीकरण के दौर की ही पैदावार नहीं थीं, ये पहले से मौजूद थीं। जो काम जर्मनी और इटली में द्रुत औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने किया था वह काम यहाँ पर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रियाओं ने किया – पूरे समाज में असुरक्षा और अनिश्चितता के माहौल को पैदा करके फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की ज़मीन को पैदा करना।

कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने जर्मनी और इटली से एक और फ़र्क़ की ओर इशारा किया है। इन लोगों का कहना है कि जर्मनी और इटली में जिस समय फ़ासीवादी उभार हुआ उस समय एक शक्तिशाली समाजवादी देश और साथ ही इन्हीं देशों में शक्तिशाली कम्युनिस्ट आन्दोलन मौजूद थे। जर्मनी और इटली में बड़े पूँजीपति वर्ग ने बेहद तत्परता से फ़ासीवाद का साथ दिया तो इसका एक कारण यह भी था कि वे समाजवाद और आसन्न मज़दूर क्रान्तियों से डरे हुए थे। भारत में ऐसा नहीं है। लेकिन भारत में बड़े पूँजीपति वर्ग ने इतनी तत्परता के साथ फ़ासीवाद का साथ दिया भी नहीं है। उसने बीच-बीच में अलग-अलग मौक़ों पर भाजपा का साथ दिया है लेकिन पूँजीपति वर्ग ने वक़्त और ज़रूरत के मुताबिक कांग्रेस का भी साथ दिया है। मिसाल के तौर पर, आज कल्याणकारी राज्य और नीतियों की ज़रूरत है। इस बात को पूँजीपति वर्ग का एक बड़ा हिस्सा भी समझ रहा है। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के दिखावटी सुधारवाद को पूँजीपति वर्ग अभी समर्थन दे रहा है। दूसरी बात यह है कि साथ ही यह सरकार क्रान्तिकारी ताक़तों के ऊपर शिकंजा कसने का काम भी कर रही है। नरेगा और खाद्य सुरक्षा जैसी कुछ नीतियों के साथ सरकार उदारीकरण और निजीकरण को खुले तौर पर जारी रख रही है और उसके पास अभी यह क्षमता भी है कि वह ऐसा कर सके। इसलिए आज नग्न पूँजीवादी तानाशाही की कोई आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि भाजपा आज राष्ट्रीय पैमाने पर दयनीय हालत में पहुँच गयी है। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का फ़ासीवादी नेटवर्क अपनी पूरी ताक़त के साथ मौजूद है। ज्यों ही कल्याणकारी राज्य की सम्भावनाएँ रिक्त होंगी वैसे ही पूँजीपति वर्ग को फ़ासीवादी चाल-चेहरे की आवश्यकता पड़ सकती है। और जब वह सत्ता में नहीं है तब भी ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की भूमिका तो वह आज भी निभाता रहता है। मज़दूर आन्दोलन में इसे ख़ास तौर पर देखा जा सकता है। साथ ही, पूरे समाज में संघी आतंक समूहों की मौजूदगी क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए एक 'काउण्टर वेट' का काम करती रहती है। हमने पिछले अंकों में जर्मनी के उदाहरण से समझाया था कि कल्याणकारी पूँजीवादी राज्य की परिणति अक्सर अधिक प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी राज्य के रूप में होती है। भारत में इसकी पर्याप्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं। मौजूदा वैश्विक साम्राज्यवादी आर्थिक संकट तो बीत जाएगा लेकिन चक्रीय क्रम में आने वाला संकट इससे भी भयंकर होगा, इसके संकेत अभी से ही मिलने लगे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था वित्तीय बाज़ारों से पूरी तरह न जुड़ी होने के कारण थोड़ी-सी बची रही लेकिन आगे यह सम्भव नहीं होगा। भारतीय अर्थव्यवस्था के किसी गहरे संकट में फँसने के साथ ही बेरोज़गारी और ग़रीबी, जो पहले ही ख़तरे के निशान से ऊपर है, और ज़्यादा बढ़ेगी। ऐसे में, क्रान्तिकारी सम्भावना भी पैदा होगी, यानी जनअसन्तोष को एक तार्किक दिशा में मोड़ते हुए, गोलबन्द और संगठित करते हुए व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में ले जाने की सम्भावना (और साथ ही, फ़ासीवादी सम्भावना भी पैदा होगी, यानी किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व की ग़ैर-मौजूदगी में पूरे समाज में मौजूद हताशा और असुरक्षा की भावना को प्रतिक्रियावादी दिशा में मोड़ते हुए नग्न पूँजीवादी फ़ासीवादी तानाशाही की ओर ले जाना। दूसरी सम्भावना को वास्तविकता में बदलने वाली नेतृत्वकारी फ़ासीवादी ताक़त आज देश में बड़े पैमाने पर मौजूद है। लेकिन ऐसी कोई अखिल भारतीय क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं है। अब सारा भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है कि हम ऐसी ताक़त को खड़ा करने की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर लेने को तैयार हैं या नहीं।

आख़िरी फ़र्क़ जिसकी ओर कुछ मार्क्सवादी विचारकों द्वारा इशारा किया जाता है वह यह है कि पहले यूरोपीय फ़ासीवादी उभार के समय जिस किस्म की महामन्दी विश्व पूँजीवाद झेल रहा था वैसी कोई मन्दी आज नहीं है। हालाँकि, मौजूद वैश्विक मन्दी में उन्हें अपने शब्दों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ रही है। लेकिन यह सच है कि वैसी चीज़ दुबारा नहीं आने वाली। इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है। अब विश्व साम्राज्यवाद में हुए परिवर्तनों के मद्देनज़र कुछ बातें साफ़ हैं। विश्व पूँजीवाद में अब मन्दी और तेज़ी का चक्र नहीं चलता। एक मन्द मन्दी लगातार बनी रहती है जो बीच-बीच में गहराती रहती है। 1995 से 2006 के बीच चार बड़ी मन्दियाँ आयीं जिसमें ये नयी वाली सबसे भयंकर थी। अब तेज़ी का दौर पूँजीवाद में नहीं आता। जितना रोज़गार पूँजीवाद पहले दे सकता था अब वह किसी हालत में नहीं दे सकता क्योंकि पूँजी कहीं ज़्यादा परजीवी हो चुकी है और उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ नहीं के बराबर रह गयी हैं। इसलिए बेरोज़गारी अचानक होने वाले विस्फोट की तरह नहीं बढ़ी बल्कि वह सघन रूप में एक स्थायी परिघटना बन चुकी है। जो इतिहासकार नये फ़ासीवादी उभार की हर विशेषता को इतिहास में ढूँढ़ना चाहते हैं उन्हें काफ़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि इतिहास में दुहराव नहीं हो सकता। कोई ज़बरन करने की कोशिश करेगा तो वह मार्क्स के शब्दों में प्रहसन बन जाएगा। यान्त्रिक मार्क्सवादी विश्लेषकों के साथ यही दिक्क़त है। आज का फ़ासीवादी उभार भी पहले जैसा नहीं होगा। विश्व पूँजीवाद में भूमण्डलीकरण के दौर में जो परिवर्तन आये हैं उनके अनुसार फ़ासीवादी उभार के स्वरूप में भी निश्चित रूप में परिवर्तन आयेंगे। यह एक अलग चर्चा का विषय है जिसपर इस लेख के दायरे में बात नहीं हो सकती। यह एक अलग लेख की माँग करता है। एक महत्त्वपूर्ण कारक की ओर इशारा करके हम आगे बढ़ना चाहेंगे। **जर्मनी में नात्सी पार्टी को और इटली में फ़ासीवादी पार्टी को संकट का समाधान राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दायरे में करना था। जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के 20 से 25 वर्षों के भीतर ही सत्ता में आ जाने का कारण यही था कि उस समय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में राष्ट्र-राज्य की भूमिका बेहद ज़्यादा थी।** वह आज भी है लेकिन बदल चुकी है। पूँजी के लिए साँस लेने की जगह कहीं ज़्यादा कम थी। उसके विपरीत, भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी के राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार खुले प्रवाह के साथ पूँजी के लिए अपने अन्तरविरोधों और संकटों को निपटाने का मंच राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था नहीं बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था है। इसलिए फ़ासीवाद भूमण्डलीकरण के दौर में उतनी द्रुत गति से और उस तरह से सत्ता में नहीं आ सकता है जैसे जर्मनी और इटली में आया था। फ़ासीवाद अगर फिर सत्ता में आता है तो उसका रूप क्या होगा यह बता पाना मुश्किल है। लेकिन यह बात सच है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सीमाएँ सन्तृप्त हो गयी थीं वैसे ही वैश्विक अर्थव्यवस्था की सीमाएँ भी सन्तृप्त हो जायेंगी और होने लगी भी हैं, जैसा कि नवीनतम साम्राज्यवादी संकट ने दिखलाया है। अब इस नये वैश्विक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विधान में फ़ासीवाद के सत्ता में आने की सूरत में पूरा रूप और रास्ता क्या होगा, यह अलग से शोध का विषय है।

फ़ासीवाद के उभार के कुछ बुनियादी कारणों की हमने व्याख्या की है जो कहीं भी फ़ासीवाद के उभार का सामान्य कारण होते हैं। **वे कारण जर्मनी में भी मौजूद थे, इटली में भी मौजूद थे और भारत में भी मौजूद थे।** सामाजिक जनवाद की ग़द्दारी इसमें हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। यह भारत में भी मौजूद है। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन आन्दोलन भारत में भी वही भूमिका निभा रहा है जो वह जर्मनी में निभा रहा था। यहाँ भी संशोधनवाद और ट्रेड यूनियन नेतृत्व मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद, अर्थवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की गलियों में घुमा रहा है। यहाँ पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन और सामाजिक जनवाद पूँजीपति वर्ग को उस किस्म के सौदे पर मजबूर नहीं कर सकता जैसा कि जर्मनी में किया था। लेकिन भारत का पूँजीपति वर्ग तत्कालीन जर्मनी के पूँजीपति वर्ग से कहीं कमज़ोर है और जितना दबाव ट्रेड यूनियन आन्दोलन से भारत में पूँजी पर बना है वह उसके मुनाफ़े के मार्जिन को सिकोड़ने के लिए काफ़ी है। श्रम क़ानूनों के कारण भारतीय पूँजी का दम काफ़ी घुटता है। ग़ौरतलब है कि भारत में आज मौजूद श्रम क़ानून उस समय के जर्मनी या इटली में मौजूद श्रम क़ानूनों से पीछे नहीं हैं बल्कि कई मायनों में ज़्यादा आगे हैं। हाल ही में फ़िक्की के एक पूँजीपति ने कहा भी था कि श्रम क़ानूनों के चलते हमें "प्रॉफिट स्क्वीज़" का सामना करना पड़ रहा है। हूबहू यही शब्द जर्मन पूँजीपतियों ने भी इस्तेमाल किया था। यह कोई संयोग नहीं है। इसलिए भारत का संशोधनवाद और सामाजिक जनवाद उतना ताक़तवर नहीं है जितना कि जर्मनी का सामाजिक जनवाद था, लेकिन भारत का पूँजीवाद भी उतना शक्तिशाली नहीं है जितना कि जर्मनी का पूँजीवाद था। अनुपात उन्नीस-बीस के अन्तर से समान ही मिलेगा!

भारत में भी कोई जनवादी क्रान्ति नहीं हुई जिसके कारण पूरे समाज में जनवादी चेतना की एक भारी कमी है और भयंकर निरंकुशता है जो फ़ासीवाद का आधार जनता के मनोविज्ञान में तैयार करती है। यहाँ पर भी क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं हुए और क्रमिक भूमि सुधारों ने प्रतिक्रियावादी युंकर वर्ग को और हरित क्रान्ति ने प्रतिक्रियावादी आधुनिक धनी किसान वर्ग को जन्म दिया। यहाँ भी निम्न-पूँजीपति वर्ग और छोटे उत्पादकों की एक भारी तादाद मौजूद है जो पूँजीवादी विकास के साथ तेज़ी से उजड़ती है और प्रतिक्रियावाद के समर्थन में जाकर खड़ी होती है। साथ ही यहाँ भी ऊपर की ओर गतिमान एक प्रतिक्रियावादी नवधनाढ्य वर्ग है जो भूमण्डलीकरण के रास्ते हो रहे विकास की मलाई चाँप रहा है। इनमें मोटा वेतन पाने वाला वेतनभोगी वर्ग, ठेकेदार वर्ग, व्यापारी वर्ग, नौकरशाह, आदि शामिल हैं। यहाँ पर मज़दूर वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो किसानी मानसिकता का शिकार है और पूरी तरह उत्पादन के साधनों से मरहूम नहीं हुआ है। वह भौतिक स्थितियों से सर्वहारा चेतना की ओर खिंचता है और अतीतोन्मुखी आकांक्षाओं और दो-चार मामूली उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण निम्न-पूँजीवादी चेतना की ओर खिंचता है। नतीजतन, सर्वहारा चेतनाकरण की प्रक्रिया मुक़ाम तक नहीं पहुँचती और इस आबादी का भी एक हिस्सा फ़ासीवादी प्रचार और प्रतिक्रिया के सामने अरक्षित होता है और उसका अक्सर शिकार बन जाता है। भारत में भी एक बड़ी लम्पट सर्वहारा उजड़ी आबादी है जो फ़ासीवादी भीड़ का हिस्सा बनती है। ये कुछ आम कारक हैं जो फ़ासीवाद के उभार की ज़मीन तैयार करते हैं। आज के ज़माने में भी ये कारक तो लागू होते ही हैं। आज के सम्भावित फ़ासीवादी उभार में नयेपन और परिवर्तन के कुछ तत्वों की ओर हमने संक्षेप में इशारा किया है, जो पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में बदलाव के कारण पैदा होते हैं। इन पर कभी आगे।

●

यहाँ भारत में फ़ासीवादी उभार के इतिहास, प्रकृति, चरित्र और सम्भावित भविष्य पर हमने संक्षेप में चर्चा की। ज़ाहिर है यहाँ हम उसके हर पहलू पर चर्चा नहीं कर सकते हैं। वह अपने आपमें एक वृहत पुस्तक या शोध-प्रबन्ध का विषय बन सकता है। मिसाल के तौर पर, दलितों और स्त्रियों के प्रति फ़ासीवादियों के घृणास्पद रुख़ पर भी चर्चा ज़रूरी है। उनके द्वारा बच्चों और किशोरों के दिमाग़ में ज़हर घोले जाने की पूरी प्रक्रिया को भी विस्तार से समझना ज़रूरी है। ऐसे और भी कई पहलू हैं। यहाँ पर हमारा मकसद दो चीज़ें थीं। पहला, फ़ासीवाद के उभार की आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझना और दूसरा, उसके सामाजिक आधार का विश्लेषण। इसके तमाम सांस्कृतिक पहलू भी हैं जिनपर अलग से समीक्षा की आवश्यकता होगी। साथ ही, हमने भारत में फ़ासीवादी उभार और जर्मनी और इटली में हुए फ़ासीवादी उभार की समानताओं और अन्तरों की भी संक्षेप में चर्चा की। चलते-चलते हमने कुछ मार्क्सवादी विश्लेषकों की मार्क्सवादी आलोचना भी की। इतनी चर्चा के बाद हम अगले अंक में अपने ठोस नतीजों के बारे में बातचीत कर सकते हैं, जो निम्न प्रकार से हैं।

आज के भारत में फ़ासीवादी रुझान का मुकाबला करने के लिए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को क्या करना होगा? हमें मज़दूरों, छात्रों, युवाओं, स्त्रियों, दलितों और धार्मिक अल्पसंख्यकों के बीच सर्वहारा क्रान्तिकारी संगठन कैसे खड़े करने होंगे? मज़दूर मोर्चे से लेकर अन्य सभी मोर्चों पर हमें फ़ासीवादियों को शिकस्त कैसे देनी होगी? फ़ासीवादी आतंक समूहों का मुकाबला कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को कैसे करना होगा? निम्न-पूँजीपति वर्ग के सवाल पर हमारा रुख़ क्या होना चाहिए? मज़दूर आबादी में फ़ासीवादी विचारधारा की घुसपैठ को रोकने के लिए हमें कौन-से कदम उठाने होंगे? शहरी मध्यमवर्गीय आबादी में फ़ासीवादी विचारधारा को शिकस्त देने के लिए हमें क्या करना होगा?

ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनका जवाब हमें देना ही होगा और अगले अंक में हम यही प्रयास करेंगे। हमने पहले बताया है कि पूँजीवादी संकट फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की भी ज़मीन तैयार करता है और मज़दूर क्रान्ति की भी। सवाल यही होता है कि क्रान्तिकारी नेतृत्व तैयार है या नहीं। हम डेनियल गुएरिन के एक कथन के साथ यहाँ रुकेंगे – **"अगर हमने समाजवाद की घड़ी को निकल जाने दिया, तो हमारी सज़ा होगी फ़ासीवाद।"**

(अगले अंक में जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की वर्षगाँठ (7 नवम्बर) के अवसर पर

अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण के निर्माण का रास्ता ही मुक्ति का रास्ता है!

आज से नब्बे वर्ष पहले, 24 अक्टूबर 1917 (नये कैलेण्डर के अनुसार 7 नवम्बर 1917) को, जब रूस के मेहनतकश अवाम ने क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग और उसकी क्रान्तिकारी राजनीतिक पार्टी के नेतृत्व में शोषकों-पूँजीपतियों की सत्ता को धूल में मिलाकर अपना राज कायम किया था तो धरती पर एक नया विहान उतर आया था। सदियों के अँधेरे को चीरकर पूरब के आसमान में उगे इस सूरज की प्रखर रोशनी में दुनिया भर के सर्वहारा वर्ग और समस्त शोषित-उत्पीड़ित जनसमुदाय ने अपनी मुक्ति के रास्ते को साफ़-साफ़ पहचाना था।

भूख-कुपोषण, अपमान-लाचारी, युद्ध-अकाल-महामारी से मुक्त एक नयी दुनिया का सपना देखने वाले, पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की विभीषिकाओं से मुक्ति का मार्ग तलाशने वाले बग़ावती नौजवान और जागरूक मेहनतकश जब भी इतिहास की ओर मुड़कर देखते हैं तो बीसवीं शताब्दी में सम्पन्न दोनों महान प्रवृत्ति-निर्धारक क्रान्तियों–1917 की रूसी क्रान्ति और 1949 की चीनी क्रान्ति का आलोक उन्हें बरबस अपनी ओर खींचता है। इसलिए दुनिया भर का बुर्जुआ शासक वर्ग और उनका अन्तरराष्ट्रीय मीडिया इन क्रान्तियों और उनके नेताओं को कलंकित करने व उनका चरित्र हनन करने के लिए अपनी सारी सर्जनात्मक प्रतिभा को झोंके रहता है। स्कूलों-कालेजों के पाठ्यपुस्तकों से लेकर तमाम पुस्तकालयों तक मार्क्सवाद विरोधी व रूसी-चीनी क्रान्ति विरोधी या कम्युनिज़्म विरोधी कचरा-साहित्य की सप्लाई निरन्तर जारी है। टी. वी., इण्टरनेट आदि के ज़रिये आयी तथाकथित संचार क्रान्ति ने अन्तरराष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की कम्युनिज़्म विरोधी प्रचार-क्षमता को अभूतपूर्व रूप से बढ़ा दिया है। इतना सब कुछ के बावजूद दुनिया के सर्वहारा वर्ग की यादों से सर्वहारा क्रान्तियों को मिटाया नहीं जा सका और न ही नयी दुनिया का सपना देखने वाली नयी पीढ़ी तक इन क्रान्तियों के प्रकाश पुंजों को पहुँचने से रोका जा सका।

महान अक्टूबर क्रान्ति ने यह साबित कर दिखाया कि दुनिया की तमाम सम्पदा का उत्पादक मेहनतकश जनसमुदाय सर्वहारा वर्ग की अगुवाई में और उसके हिरावल दस्ते – एक सच्ची, इंक़लाबी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में स्वयं शासन-सूत्र भी सम्हाल सकता है तथा अपने भाग्य और भविष्य का नियन्ता स्वयं बन सकता है। महान अक्टूबर क्रान्ति ने यह साबित किया कि मालिक वर्गों को समझा-बुझाकर नहीं बल्कि उनकी सत्ता को बलपूर्वक उखाड़कर और उनपर बलपूर्वक अपनी सत्ता (सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व) क़ायम करके ही पूँजीवाद के जड़मूल से नाश की प्रक्रिया शुरू की जा सकती है और समाजवाद का निर्माण किया जा सकता है।

अक्टूबर क्रान्ति ने पूँजीपतियों और उनके पहले के तमाम मालिकों द्वारा हज़ारों वर्षों के दौरान जनता में कूट-कूटकर भरी गयी इस बात को झूठा साबित किया कि मेहनतकश लोग सिर्फ़ काम कर सकते हैं, "ज्ञानी" लोगों की मदद से राजकाज चलाना तो मालिक लोगों का काम है। राज्यसत्ता पर काबिज होने के बाद महान लेनिन की बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सोवियत संघ के मज़दूरों और मेहनतकश जनता ने न केवल पश्चिमी पूँजीवादी देशों के संयुक्त हमले का मुकाबला किया और उनके समर्थन से तोड़फोड़ की कार्रवाइयों में लगे देशी प्रतिक्रियावादियों को कुचल डाला, बल्कि भुखमरी और अकाल झेलकर भी साम्राज्यवादियों की आर्थिक नाकेबन्दी के सामने घुटने नहीं टेके और दिन-रात एक करके समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण किया। दस वर्षों के भीतर उत्पादन के साधनों पर निजी मालिकाने का खात्मा करके विविध रूपों में सामाजिक मालिकाना क़ायम कर दिया गया।

जल्दी ही, शुरुआती संकटों से उबरकर समाजवाद आगे को लम्बे डग भरने लगा। पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान, उद्योग और कृषि के क्षेत्र में उत्पादन-वृद्धि के ऐसे रिकार्ड क़ायम हुए जिन्होंने औद्योगिक क्रान्ति को भी मीलों पीछे छोड़ दिया। यह पूँजीवादी प्रचार एकदम झूठा साबित हुआ कि सर्वहारा वर्ग के राज्य के मालिकाने वाले कारखाने और सामूहिक खेती में उत्पादन का काम सुचारु रूप से चल ही नहीं सकता। काम न केवल सुचारु रूप से चला, बल्कि उत्पादन-वृद्धि की ऐसी रफ़्तार दुनिया ने पहले कभी नहीं देखी थी।

केवल आर्थिक प्रगति और समानता के स्तर पर ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भी सोवियत संघ ने चमत्कारी उपलब्धियाँ हासिल कीं, जिन्हें पश्चिमी पूँजीवादी देशों के बुर्जुआ बुद्धिजीवियों और अखबारों को भी स्वीकार करना पड़ा। वेश्यावृत्ति और यौनरोगों का और बलात्कार जैसे अपराधों का पूरी तरह खात्मा हो गया। शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधा पूरी आबादी को समान स्तर पर मुहैया की जाने लगी। आम मज़दूरों के लिए तरह-तरह के नाटक, फिल्म व सांस्कृतिक कार्यक्रम तैयार किये जाने लगे और उन्हें मनोरंजन और घर-परिवार के लिए पर्याप्त समय भी मिलने लगा। ज़्यादा से ज़्यादा बड़े पैमाने पर स्त्रियाँ चूल्हे-चौखट की गुलामी से मुक्त होकर उत्पादन के अतिरिक्त अन्य सामाजिक गतिविधियों में भी हिस्सा लेने लगीं।

समाजवाद की अस्थायी हार और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का दौर फिर भी बुझी नहीं है अक्टूबर क्रान्ति की मशाल!

स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में ख्रुश्चेव के नेतृत्व में एक नये किस्म के पूँजीपति वर्ग का शासन क़ायम हो गया। ये पार्टी और राज्य मशीनरी के नौकरशाह थे जो लाल झण्डा, पार्टी और समाजवाद की आड़ लेकर वास्तव में जनता की सम्पत्ति के मालिक बन बैठे थे। यह नये किस्म का राजकीय पूँजीवाद था। 1990 आते-आते यह राजकीय पूँजीवाद खुले निजी पूँजीवाद में बदल गया। सभी नकाब और मुलम्मे उतर गये। असलियत सामने आ गयी। सोवियत संघ भी टूट गया।

यह वह दौर था, जब न केवल पूर्वी यूरोप के देशों में खुला पूँजीवाद बहाल हो गया था, बल्कि 1976 में माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में भी "बाजार समाजवाद" के नाम पर पूँजीवाद बहाल हो चुका था। दुनिया भर के साम्राज्यवादियों और पूँजीपतियों के भोंपू लगातार चीखने लगे कि समाजवाद को हमेशा-हमेशा के लिए नेस्तनाबूद कर दिया गया, कि अक्टूबर क्रान्ति की मशाल हमेशा-हमेशा के लिए बुझा दी गयी। क्या यह सच है?

इतिहास कहता है–नहीं! पहले भी ऐसा कई बार हुआ है कि क्रान्तिकारी वर्ग अपनी अन्तिम जीत के पहले सत्ताधारी वर्गों से कई बार परास्त हुए हैं। पहले भी कई बार क्रान्तियों का पहला चक्र अधूरा या असफल रह गया है और फिर उनके नये चक्र ने इतिहास के नये युग की शुरुआत की है। स्वयं पूँजीवाद सामन्तवाद से तीन सौ वर्षों तक लड़ने और कई-कई बार पराजित होने के बाद ही अन्तिम जीत हासिल कर सका।

सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच के विश्व-ऐतिहासिक महासमर का अभी पहला चक्र पूरा हुआ है। नया चक्र अब शुरू हुआ है। पूरी दुनिया में अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करणों का निर्माण अवश्यम्भावी है।

पर इतना ही कहना काफ़ी नहीं। आज विश्व स्तर पर चरम संकटग्रस्त पूँजीवाद मेहनतकशों पर जो कहर बरपा कर रहा है, उससे निजात पाने के लिए अक्टूबर क्रान्ति की मशाल से नयी क्रान्तियों का दावानल भड़काना होगा। और इसके लिए ज़रूरी है कि मेहनतकश अवाम और उसका इन्कलाबी हिरावल दस्ता समाजवाद की फिलहाली हार के सभी कारणों को भलीभाँति समझे।

समाजवादी समाज में जारी वर्ग-संघर्ष और पूँजीवाद की फिर से बहाली में पार्टी के भीतर के बुर्जुआ वर्ग की भूमिका

समाजवाद दरअसल पूँजीवाद और वर्ग-विहीन समाज (कम्युनिज़्म) के बीच का एक लम्बा समय होता है जिसमें खेतों-कारखानों पर निजी मालिकाने के खात्मे के बावजूद अभी विभिन्न छोटे स्तरों पर निजी स्वामित्व मौजूद रहता है, अन्तर एवं असमानताएँ मौजूद रहती हैं, बाजार व मुद्रा मौजूद रहते हैं, शारीरिक श्रम व मानसिक श्रम जैसे भेद मौजूद रहते हैं, तनख्वाहों में अन्तर बना रहता है, पुरानी आदतें व संस्कार मौजूद रहते हैं, वर्ग-संघर्ष जारी रहता है तथा इस तरह पूँजीवाद के एक या दूसरे रूप में बहाली का खतरा भीतर से भी बना रहता है। (बाहरी साम्राज्यवादी हमले या तोड़फोड़ का खतरा तो लगातार रहता ही है)।

समाजवादी समाज में मौजूद बुर्जुआ वर्गों के हितों की नुमाइन्दगी कम्युनिस्ट पार्टी व राज्य के नेतृत्व में मौजूद वे लोग करते हैं जो अपने ओहदे के विशेषाधिकारों-सुविधाओं के गुलाम बन चुके होते हैं, जो खुद नौकरशाह बन चुके होते हैं, जो वर्ग संघर्ष को तिलांजलि देकर शान्तिपूर्ण विकास की वकालत करते हैं। ये खुद ही एक किस्म के बुर्जुआ वर्ग होते हैं – पार्टी के भीतर के बुर्जुआ वर्ग, जो लाल झण्डा, पार्टी और समाजवाद की आड़ में जनता को ठगकर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की "ऐतिहासिक" सेवा करते हैं। रूस में ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव ने और चीन में देङसियाओ-पिङ और उसके उत्तराधिकारियों ने यही काम किया।

संशोधनवादी और हर तरह के नकली कम्युनिस्ट वे भितरघाती हैं जो मज़दूरों की लड़ाई को अन्दर से कमजोर करके पूँजीपतियों की सेवा करते हैं! यही वे नकली कम्युनिस्ट हैं, जिन्होंने न केवल समाजवाद को तबाह करके विश्व पूँजीवाद की सेवा की है, बल्कि क्रान्ति होने के पहले भी, यही भितरघाती, मज़दूरों की हर लड़ाई को भीतर से कमजोर करते रहे हैं, उनकी पीठ में चाकू भोंकने का काम करते रहे हैं। रूस के मेन्शेविकों, जर्मनी के कार्ल काउत्स्की और ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव, देङ सियाओ-पिङ तथा हमारे देश के डाँगे-ज्योति बसु-सुरजीत- करात-बर्द्धन आदि की नस्ल और बिरादरी एक है।

आज भी यह बात पूरी दुनिया और हमारे देश के सन्दर्भ में सही है। समाजवाद को बदनाम करने के लिए पूँजीवादी प्रचार तंत्र ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव और देङ आदि संशोधनवादियों के सभी कुकर्मों की तोहमत समाजवाद के मत्थे मढ़ रहा है। हमारे देश में भी ज्योति बसु और प्रकाश करात से लेकर तक इन्द्रजीत गुप्त और ए.बी बर्द्धन तक – इन सबके पाप का घड़ा कम्युनिज़्म के मत्थे फोड़कर कम्युनिज्म के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को बदनाम किया जाता है। यूरोप से लेकर भारत तक – ये सभी किसिम-किसिम के नकली कम्युनिस्ट बुर्जुआ संसदों के सुअरबाड़ों में बरसों से लोट लगा रहे हैं और अब तो प्राय: सरकारों में शामिल होकर उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को लागू करने में अहम भूमिका निभा रहे हैं। पहले तो यह पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षापंक्ति के रूप में छिपकर काम करते थे और कम्बल ओढ़कर घी पीते थे। अब यह सब कुछ खुलेआम हो रहा है। इसका लाभ यह है कि मेहनतकश जनता, जो मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से अपरिचित है, वह भी इनकी करनी से इनका असली चरित्र पहचानने लगी है।

नकली वामपन्थियों का भण्डाफोड़ लगातार करो! ट्रेड यूनियनों से अर्थवाद-सुधारवाद और नौकरशाही को उखाड़ फेंको!!

फिर भी सर्वहारा क्रान्तिकारियों को निश्चिन्त होने की जरूरत नहीं है। क्योंकि क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बिखरे होने और कमजोर होने के कारण, बहुतेरे मेहनतकश भाकपा-माकपा जैसी पार्टियों और एटक-सीटू आदि के नेताओं को ही कम्युनिस्ट समझते हैं। व्यापक मज़दूर आबादी को कम्युनिज्म के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से और संशोधनवाद-अर्थवाद की असलियत से परिचित कराने के लिए क्रान्तिकारी प्रचार की कार्रवाई जरूरी है।

मज़दूर यूनियनों में अभी भी इन्हीं अर्थवादी ट्रेड यूनियन नेताओं की नौकरशाही हावी है, जिन्होंने मज़दूर वर्ग को सिर्फ़ आर्थिक माँगों की लड़ाई तक ही सीमित रखकर उसे उसके राजनीतिक संघर्ष के कार्यभार और पूँजी के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के ऐतिहासिक मिशन से एकदम अपरिचित रखा है। इनके असली चरित्र को जानने के बाद मज़दूर वर्ग निराश होकर या तो बुर्जुआ ट्रेडयूनियनों की ओर जा रहा है या फिर अराजकतावादी ढंग के आन्दोलन-उभार का रास्ता अपना रहा है। इसके बजाय मज़दूर वर्ग क्रान्तिकारी आधार पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन के पुनर्निर्माण का रास्ता अपनाये, व्यापक मज़दूर एकता के नारे को अमली जामा पहनाये और जनवादी तौर-तरीकों के द्वारा ट्रेड यूनियन नौकरशाही की जड़ ही खोद डाले – इसके लिए मज़दूर आबादी के बीच व्यापक क्रान्तिकारी प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलानी होगी। और यह काम उनके बीच जाकर उनके रोजमर्रे के आर्थिक और राजनीतिक माँगों के संघर्षों में सक्रिय भागीदारी के साथ-साथ करना होगा।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन का क्रान्तिकारीकरण भी वही मज़दूर वर्ग कर सकता है जो राजनीतिक संघर्ष के अपने कार्यभार को भी समझे और अपने वर्ग संगठन के सबसे उन्नत रूप के तौर पर एक क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी के निर्माण की ज़रूरत को महसूस करे। कहा जा सकता है कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन के क्रान्तिकारीकरण के कार्यभार और एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण एवं गठन से सम्बन्धित कार्यभार एकदम अलग-अलग न होकर एक-दूसरे से अनेक रूपों में जुड़े हुए हैं।

आज हालात ऐसे हैं कि मज़दूर यदि नीतियाँ बनाने वाली पूँजीवादी राज्य मशीनरी के ख़िलाफ़ राजनीतिक लड़ाई नहीं लड़ेगा, तो अलग-अलग बँटकर लड़ता हुआ अपनी छोटी-छोटी आर्थिक माँगें भी नहीं मनवा पायेगा! यह एक अच्छी बात है कि आज भारतीय शासक वर्ग की आर्थिक नीतियों ने खुद ही ऐसी अनुकूल स्थिति पैदा कर दी है कि मज़दूर वर्ग राजनीतिक अधिकारों के संघर्ष के लिए प्रचार को स्वीकार करने के लिए पहले हमेशा से अधिक तैयार होता जा रहा है। निजीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद की नीतियाँ हैं जो भारत में भी मेहनतकश जनता के सामने छँटनी-तालाबन्दी, बेरोज़गारी और महँगाई का अभूतपूर्व कहर बरपाना शुरू कर चुकी हैं। मेहनतकश अवाम समझता जा रहा है कि अब सिर्फ़ वेतन-वृद्धि और चन्द सुविधाओं के लिए लड़ने पर वह भी नहीं मिलने वाला। अब वेतन-वृद्धि की आंशिक लड़ाई भी तभी जीती जा सकती है जब पूरी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठायी जाये, रोज़गार के बुनियादी अधिकार को मुद्दा बनाया जाये और जनविरोधी नीतियों को बनाने और लागू करने वाली राज्य मशीनरी के ख़िलाफ़ संगठित हुआ जाये। हालात ऐसे बन रहे हैं कि मज़दूर वर्ग ट्रेड यूनियन के धन्धेबाज़ों की गिरफ्त से बाहर आकर इस सच्चाई को आसानी से समझ और पकड़ सकता है।

भाँति-भाँति के अर्थवादी, उदारवादी, सुधारवादी नकली कम्युनिस्टों और मज़दूर नेताओं से अपना पीछा छुड़ाये बग़ैर भारतीय मज़दूर वर्ग अपनी मुक्ति की राह पर, अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण केनिर्माण की राह परआगे नहीं बढ़ सकता। उसे ट्रेड यूनियन आन्दोलन से नौकरशाही और अर्थवाद-सुधारवाद को उखाड़ फेंकना होगा। अलग-अलग ट्रेड यूनियनों की दलगत दुकानदारियों में मज़दूरों को बाँटने की साज़िश को पहचानकर व्यापक मज़दूर एकता और जनवाद के आधार पर संगठित होना होगा।

अक्टूबर क्रान्ति की अनवरत जलती मशाल आह्वान कर रही है कि सिर्फ़ आर्थिक लड़ाई लड़ने के बजाय अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ो, मज़दूर विरोधी आर्थिक नीतियाँ बनाने वाली राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ राजनीतिक लड़ाई लड़ो! क्रान्तिकारी विचारधारा के मार्गदर्शक सिद्धान्त और क्रान्तिकारी पार्टी की राजनीतिक ज़रूरत को पहचानो! देश स्तर पर सर्वहारा वर्ग की एक क्रान्तिकारी पार्टी फिर से खड़ी करने के लिए आगे आओ। भारत के मज़दूर वर्ग को आह्वान को सुनना होगा और इस मशाल को थामकर आगे बढ़ना होगा। ●

अदम्य बोल्शेविक – नताशा

एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी (समापन क़िश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बरदस्त क़ुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में स्त्री बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोयलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। 'बिगुल' में धारावाहिक प्रकाशित हो रही उनकी इस संक्षिप्त जीवनी की यह समपान क़िश्त है। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिला होगा। जल्दी ही 'बिगुल' पुस्तिका के रूप में इसे 'राहुल फ़ाउण्डेशन' द्वारा प्रकाशित किया जायेगा। – सम्पादक

(दसवीं क़िश्त से आगे)

सेमोइलोव ने मृत्यु से पहले अपने पत्रों में लिखा था कि मछुआरों के बन्दरगाह पर ऐसे लोगों की भरमार है जो हमारे और हमारे निर्माण कार्य के दुश्मन हैं, और ये सभी विभिन्न प्रकार के "विशेष खाद्य संगठनों", "आपूर्ति समितियों" वग़ैरह के निदेशक होने के "प्रमाणपत्रों" से लैस हैं।

स्टीमर के रवाना होते ही सेमोइलोवा सांगठनिक कार्यों में व्यस्त हो गयीं। उनकी पहल पर स्टीमर पर मौजूद स्त्री कम्युनिस्टों की बैठक बुलायी गयी, एक पार्टी प्रकोष्ठ का गठन किया गया और एक कमेटी चुनी गयी। कमेटी के चुनाव के लिए स्टीमर के कर्मी दल की भी एक आम सभा बुलायी गयी। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ट्रेड यूनियन कमेटी की मदद से पार्टी प्रकोष्ठ को स्टीमर के कर्मी दल और उस पर मौजूद तमाम लोगों के बीच व्यापक स्तर पर राजनीतिक शिक्षा का काम करना चाहिए।

रेड स्टार ने पहली मई से अपना आन्दोलनात्मक काम शुरू किया। तय किया गया कि सिम्बीर्स्क कारतूस फ़ैक्ट्री पर रुका जाये और पार्टी की क्षेत्रीय और ज़िला कमेटियों की ओर से आयोजित हो रहे समारोहों में हिस्सा लिया जाये और शाम को *रेड स्टार* पर एक मीटिंग और संगीत कार्यक्रम का आयोजन किया जाये। मनोरंजन के लिए *नयामोर्चा* नाम का एक नाटक विशेष रूप से लिखा गया था।

लगभग तीन सौ मज़दूर स्त्री-पुरुष कारतूस फ़ैक्ट्री के पास चौराहे पर जमा हुए जहाँ ताज़ा हरी घास बिछायी गयी थी और जिसे बिजली के लैम्पों से सजाया गया था।

इस अवसर पर विशेष रूप से बनाये गये मंच से एक वक्ता ने भाषण दिये। छुट्टी के दिन के कपड़े पहने बहुत-से मज़दूर उदासीन भाव से और बेमन से खड़े थे। अचानक वे भीड़ बनाकर पास आ गये और उनके चेहरे दोस्ताना भाव से दमक उठे, हर्षध्वनि गूँज उठी। सेमोइलोवा आर्थिक तबाही के ख़िलाफ़ संघर्ष पर अपना पहला भाषण दे रही थीं। ऐसा भाषण जिसे उन्होंने इस यात्रा के दौरान कई बार दुहराया, लेकिन हर बार नये तथ्यों, नयी ऊर्जा, जोश और शक्ति के साथ। शाम को जहाज़ पर भी उन्होंने भाषण दिया जहाँ उन्होंने कारतूस कम्पनी की स्त्री मज़दूरों को सम्बोधित किया। उन्होंने उनमें अपना विश्वास जताया, वह उन्हें आर्थिक तबाही के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए जगाना चाहती थीं।

सिम्बीर्स्क से रवाना होकर स्टीमर बिना रुके ज़ारित्सिन (बाद में स्तालिनग्राद) पहुँचा। यह पड़ाव विशेष रूप से महत्वपूर्ण था क्योंकि अस्त्राखान में काम करने वाले मज़दूरों में से बहुत-से ज़ारित्सिन क्षेत्र से आते थे – मुख्यत: कुशल स्त्री मज़दूर। लिहाज़ा, सेमोइलोवा ने वहाँ एक ग़ैर-पार्टी स्त्री सम्मेलन बुलाने की योजना बनायी थी और ज़ारित्सिन के कामरेडों को फोन पर पहले ही इसकी सूचना दे दी गयी थी। ज़ारित्सिन की कामकाजी औरतें उनकी पिछली यात्रा के समय से ही उन्हें जानती थीं और एक बार फिर उन्हें सुनने के लिए बड़ी ही उत्सुकता से जमा हुईं। "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में स्त्री मज़दूर", शीर्षक उनके भाषण ने श्रोताओं में सनसनी भर दी, उनका उत्साह जगा दिया। और बहुत-सी कामकाजी औरतों ने मंच पर आकर घोषणा की कि वे संघर्ष में मदद करने के लिए तैयार हैं।

अस्त्राखान में "फ़ोरपोस्ट" (मेहनतकशों की आबादी वाला अस्त्राखान का एक उपनगर) से फ़िशरी में काम करने वाली औरतों की प्रतिनिधि आयी थीं। उन्होंने अपनी कठिन कामकाजी परिस्थितियों के बारे में बताया और कहा कि उनके लिए कुछ भी कर पाना नामुमकिन है क्योंकि उन्हें पार्टी की क्षेत्रीय कमेटी से बिल्कुल समर्थन नहीं मिलता। गुस्से से भर कर सेमोइलोवा ने प्रशासनिक कामकाज के नेता कामरेड एरेमेयेव को बुलवाया और उनसे कहा कि इस तरह की काहिली बरतने वालों के साथ "सख़्ती से पेश आयें" और इस बात पर ज़ोर दें कि मछली उद्योग में अपने कामकाज को संगठित करने में स्त्री विभाग की मदद की जाये। वोल्गा के मुहाने के टापुओं में फैली बहुत-सी फ़िशरी में पचास-साठ फ़ीसदी कामकाजी औरतें काम करती थीं। स्टीमर ने फ़िशरी वाले इलाक़े का एक चक्कर लगाया।

अस्त्राखान, में या यह कहना बेहतर होगा कि अस्त्राखान की फ़िशरियों में, सेमोइलोवा ने आन्दोलनात्मक कार्य के साथ एक और काम किया, स्त्री-पुरुष मज़दूरों के हालात की जाँच-पड़ताल का काम, जो उस समय बड़ी तादाद में मत्स्य क्षेत्र में काम करते थे (लगभग चालीस हज़ार)। उन्होंने जीजान से ख़ुद को इस काम में खपा दिया। हालाँकि मास्को में ही उन्हें वहाँ की मज़दूर औरतों की दुर्दशा और उनके काम की कठिन स्थितियों से आगाह किया गया था लेकिन वहाँ उन्हें जो कुछ देखने को मिला उससे वह हतप्रभ रह गयीं। बीते युग ने, इन दूरदराज़ के द्वीपों में उस दौर की भयावह विरासत छोड़ी थी जब वहाँ पूँजीवादी लोलुपता राज करती थी।

उन्होंने कामकाजी स्त्री-पुरुषों की जीवन परिस्थितियाँ सुधारने के काम में कोताही बरतने के लिए फिशरियों के प्रबन्धन और उनकी कमेटियों के साथ-साथ आपूर्ति मज़दूरों की ट्रेड यूनियन के संगठनों पर बार-बार हमला बोला।

शाम की बैठकों में उनकी बातें और भी ज़्यादा असरदार होती थीं जब वे स्त्री और पुरुष मज़दूरों से संगठित होने, सोवियत सत्ता और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मिलकर आर्थिक तबाही के ख़िलाफ़ संघर्ष करने का आह्वान करती थीं।

वह बैरकों में अत्यन्त अस्वास्थ्यकर स्थितियों में रहने वाले बच्चों की स्थिति को लेकर विशेष रूप से चिन्तित थीं। वह बच्चों की संगीत सभाओं या छुट्टियों के लिए कुछ घण्टे निकालने के लिए हमेशा तैयार रहतीं। कभी-कभी हज़ार या इससे भी अधिक बच्चे जमा हो जाते। वह उन्हें कहानियाँ सुनातीं, उनसे बातें करतीं। बच्चों के साथ उनके व्यवहार में ज़बर्दस्त धैर्य और उदारता झलकती थी। वह बच्चों की दुर्दशा देखकर नाराज़ थीं और स्थानीय कार्यकर्ताओं और प्रबन्धन के साथ बैठकों में इस मुद्दे पर बहुत ज़ोर देती थीं। बच्चों और मातृत्व की रक्षा के सवाल पर उन्होंने लाल फ़ीताशाही के प्रति किसी तरह के धैर्य का प्रदर्शन नहीं किया और ठोस क़दम उठाये जाने की माँग की। पूरे मत्स्य क्षेत्र में जहाँ कहीं भी पार्टी प्रकोष्ठ थे वहाँ नर्सरियों और बच्चों की कालोनियों के गठन के प्रयास किये गये। **रेड स्टार** ने कई जगहों पर उनके गठन में मदद की।

लेकिन उपयुक्त जगह और उपकरण और सबसे बढ़कर आवश्यक कर्मचारियों का अभाव इन चीज़ों के लिए लड़ने वालों के सामने सबसे बड़ी बाधा थे। क्षेत्रीय मत्स्य क्षेत्र परिषद उनकी माँगों की अनसुनी करता रहा। केन्द्र का प्रभाव इस दूर-दराज के इलाक़े में अब तक नहीं पहुँचा था। नेतृत्वकारी संगठनों के साथ सम्पर्क के अभाव में पार्टी के सेल और मत्स्य क्षेत्र कमेटियाँ क्षेत्रीय मत्स्य क्षेत्र परिषद के मातहत बनी हुई थीं।

सेमोइलोवा ने **रेड स्टार** के राजनीतिक विभाग में हुई बैठकों और **रेड स्टार** से छपने वाले अखबार में लिखे लेखों में भी अपना रोष व्यक्त किया। स्टीमर वोल्गा के मुहाने में जितना आगे बढ़ता गया ये लेख उतने ही अधिक जीवन्त होते गये।

15 मई को वे "ओरेंजरी फ़िशरी" पर पहुँचे। अपने लेख 'स्त्री मज़दूरों ने अपना फ़र्ज़ निभाया है" में सेमोइलोवा ने लिखा :

"श्वेत गार्ड के दस्युओं ने हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तहस-नहस कर दी, उसे पतन के कगार पर ला खड़ा किया, खेती और उद्योगों को तबाह कर दिया है, मत्स्य क्षेत्रों के कामकाज को अस्त-व्यस्त कर दिया है। हमारे लिए मत्स्य क्षेत्रों में, कीचड़ और पानी में काम करना कठिन है। लाल सेना के लिए भी अपने परिवारों से दूर खन्दकों में डटे रहना आसान नहीं था। लेकिन लाल सेना के सिपाहियों ने समाजवादी पितृभूमि के प्रति अपना फ़र्ज़ पूरा किया और हमारे दुश्मनों को हराया। हम उनके पदचिह्नों पर चलेंगे।"

20 मई को निकितिना फिशरी से उन्होंने एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था "ज्ञान ही हमारी शक्ति और हमारी जीत के संकल्प की बुनियाद है"। उन्होंने लिखा :

"स्त्री और पुरुष मज़दूर नये समाजवादी आधार पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संगठित कर सकें, इसके लिए न सिर्फ़ उनका शिक्षित होना ज़रूरी है बल्कि इसके लिए उनको व्यावसायिक-तकनीकी शिक्षा भी मिलनी चाहिए। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए सोवियत सरकार तकनीकी कोर्स और स्कूलों की व्यवस्था कर रही है। हमें अशिक्षा का ख़ात्मा करना ही होगा जो पुरानी व्यवस्था की अभिशप्त विरासत है। ज्ञान हासिल करके ही हम अपने तमाम दुश्मनों को परास्त कर सकते हैं और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को उसके पैरों पर खड़ा कर सकते हैं।"

उन्होंने अपना आख़िरी लेख 31 मई को फ़्योदोरोव फ़िशरी से लिखा। "जहाँ शिक्षा की दरकार है (राजनीतिक शिक्षा विभाग की विज्ञप्ति)" शीर्षक लेख में वह लिखती हैं :

"अस्त्राखान के बहुत-से मत्स्य क्षेत्र शैक्षणिक-सांस्कृतिक कार्य की दृष्टि से रेगिस्तान जैसे हैं। वोल्गा के मुहाने के पास बिखरे, शहर के शैक्षणिक हलक़ों से अलग-थलग इन इलाक़ों को न तो शैक्षणिक हलक़ों से कोई मदद मिलती है और न ही राजनीतिक शिक्षा विभागों से। लेकिन मेहनतकश जनता में हर जगह शिक्षा की प्यास देखी जा सकती है। समूचे मत्स्य क्षेत्र में वयस्कों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए ख़ुद मज़दूरों की पहल पर स्कूल खुल रहे हैं। स्थानीय क्लबों का गठन किया जा रहा है। लेकिन वे बस किसी तरह अपने अस्तित्व को बनाये हुए हैं क्योंकि उनके पास किताबें नहीं हैं, क्लबों में कोई अख़बार नहीं आते और मत्स्य क्षेत्रों के मज़दूरों को पता नहीं रहता कि दुनिया में क्या चल रहा है। यह सच है कि किताबों की कमी का कारण आम आर्थिक तंगी है जिससे हम गुज़र रहे हैं। राजनीतिक शिक्षा विभाग के पास निश्चित तादाद में स्कूली किताबें हैं और वह स्कूलों में कुछ किताबें मुहैया भी कराता है। आज चालीस हज़ार स्त्री-पुरुष मज़दूरों को व्यापक सांस्कृतिक-शैक्षणिक काम की दरकार है, ख़ासकर तब जबकि मत्स्य क्षेत्र गणराज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए इतने महत्वपूर्ण हो गये हैं।

"पार्टी, ट्रेड यूनियनों और शैक्षणिक संस्थानों को इस मेहनकश अवाम की शिक्षा पर सबसे ज़्यादा ध्यान देना चाहिए।"

यह उनका अन्तिम लेख था।

मई 31 को सेमोइलोवा ने अपना आख़िरी भाषण दिया। वह फ़्योदोरोव फ़िशरी में गयीं और औरतों से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका की चर्चा की। उसी दिन शाम को वह बीमार पड़ गयीं और दो दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

अस्त्राखान में सेमोइलोवा को एक और दिल तोड़ देने वाला अनुभव हुआ था। एक सम्मेलन में उनके पास जो चिटें भेजी गयी थीं उनमें से एक चिट कामरेड शपाकोवा की भेजी हुई थी जिन्होंने उनसे व्यक्तिगत मुलाकात का अनुरोध किया था। शपाकोवा उस समय पेत्रोग्राद की एक सक्रिय स्त्री मज़दूर हुआ करती थीं, जब सेमोइलोवा ने संघर्ष के शुरुआती दिनों में वहाँ स्त्रियों को संगठित किया था। सेमोइलोवा ने उन्हें फ़ौरन **रेड स्टार** पर आमन्त्रित किया जहाँ शपाकोवा ने उन्हें अपनी कहानी सुनायी।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी से सम्बद्ध स्त्री मज़दूरों के केन्द्रीय संगठन की ओर से कुछ और कामरेडों के साथ शपाकोवा को मत्स्य क्षेत्र में काम करने के लिए भेजा गया था। इन सभी को वहाँ अनजानी और कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। वे अस्त्राखान की क्षेत्रीय पार्टी कमेटी से अलग-थलग पड़ गये थे। वे वोल्गा के मुहाने के विभिन्न सुनसान द्वीपों में बिखरे हुए थे, जो पार्टी कार्य की दृष्टि से सचमुच वीरान ही थे; और चारों ओर से शत्रुतापूर्ण तत्वों से घिरे हुए थे; जल्द ही उनके समूह के भीतर नेतृत्व नाम की कोई चीज़ नहीं बची। उनकी क़तारों की आपसी एकजुटता कमज़ोर पड़ गयी। वे सब ओर से कट-से गये और आपसी सम्पर्क की कमी से बिखराव के शिकार हो गये। सेमोइलोवा के सरोकार और कामरेडाना ध्यान से प्रभावित होकर शपाकोवा ख़ुद को रोक न सकीं। वह सब कुछ कह देना चाहती थीं, सारी कहानी सुना देना चाहती थीं। वह अपनी हालत का बयान करते हुए रो पड़ीं। उनके पास वास्तव में कुछ भी नहीं था। सेमोइलोवा दंग रह गयीं। उन्होंने शपाकोवा को *रेड स्टार* पर साथ ले चलने का फ़ैसला कर लिया लेकिन जब तक स्टीमर आया तब तक शपाकोवा के लिए काफ़ी देर हो चुकी थी। सेमोइलोवा से मिलने के अगले ही दिन उनकी मृत्यु हो गयी, वह अस्त्राखान में हैज़े का पहला शिकार थीं। उनकी मौत से सेमोइलोवा को भारी सदमा लगा। लेकिन सेमोइलोवा को ख़ुद भी हैज़ा हो गया और 2 जून को उनकी मृत्यु हो गयी।

ज़ारशाही की देन तीन महाविपत्तियों – गरीबी, अज्ञान और दमन – पर पलने वाले दुश्मन के ख़ूनी पंजे ने पेत्रोग्राद की स्वस्थ, युवा और उत्साही स्त्री कार्यकर्ता शपाकोवा को छीन लिया। उसी दुश्मन ने दिल से हमेशा युवा और क्रान्तिकारी ऊर्जा से भरपूर अदम्य योद्धा सेमोइलोवा को भी निगल लिया।

कम्युनस्टि पार्टी ने अस्त्राखान के मत्स्य क्षेत्र के सोवियतीकरण की कठिन लड़ाई को जारी रखा।

बोल्शेविकों - सेमोइलोवा और उनके पति ने सहजवर्गीय बोध से सही मूल्यांकन किया था कि अस्त्राखान मत्स्य क्षेत्र के काम में "विरोधी तत्व" घुस आये हैं। अतीत में यही मत्स्य क्षेत्र अपने पूँजीवादी मालिकों को ज़बर्दस्त मुनाफ़ा देता था। पुराने मालिकों के वफ़ादार कारिन्दों ने केन्द्र से लम्बी दूरी और स्थानीय कार्यकर्ताओं की कमज़ोरी का फ़ायदा उठा कर मत्स्य क्षेत्र में अपनी जड़ें जमा लीं और सोवियत सरकार के निर्माण कार्यों को तबाह कर डाला।

वर्ष 1926 में कहीं जाकर कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सोवियत सरकार व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बहाल करने और फिर उसका पुनर्निर्माण करने के काम को ठीक तरह से सम्भाल सकी। अस्त्राखान से तोड़-फोड़ करने वालों को उखाड़ फेंका गया और सम्पूर्ण आर्थिक-सामाजिक पुनर्निर्माण का काम शुरू हुआ।

अस्त्राखान मत्स्य क्षेत्र के विनाशकारियों के मामले की गूँज पूरे सोवियत संघ में सुनी गयी; लेकिन तोड़-फोड़ की इस कार्रवाई के अन्तिम स्रोत अस्त्राखान में नहीं तलाशे जा सकते थे।

जब बड़े अन्तरराष्ट्रीय मुक़दमे शुरू हुए, इण्डस्ट्रियल पार्टी और मेंशेविकों के ख़िलाफ़ मुक़दमे चले तब यह तथ्य सामने आया कि अस्त्राखान मत्स्य क्षेत्र में चल रही तोड़-फोड़ के तार विदेश में, रूसी पूँजीपतियों तक फैले हुए हैं, जिन्हें अन्तरराष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग पनाह दिये हुए था।

लेकिन मेहनतकश वर्ग, यानी समाजवाद का निर्माण कर रहे करोड़ों स्त्री-पुरुष मज़दूर विजयी भाव से सभी पुरानी चीज़ों को, जिनके दिन लद चुके हैं, झाड़ू मारकर परे हटा रहे हैं। उन्होंने इस समृद्ध क्षेत्र में दनीप्रोस्त्रोय और कुज़्बास की टक्कर का मज़दूरों का शहर खड़ा कर लिया है, और यह उस कामरेड का सबसे उपयुक्त स्मारक है जो इस संघर्ष में शहीद हो गयी, अदम्य बोल्शेविक वीरांगना नताशा की सर्वश्रेष्ठ यादगार है।

---------- **समाप्त** ----------

अनुवाद : विजयप्रकाश सिंह

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख़

गुड़गाँव में हज़ारों-हज़ार मज़दूर सड़कों पर उतरे

यह सतह के नीचे धधकते ज्वालामुखी का संकेत भर है

बिगल संवाददाता

बीस अक्टूबर को राजधानी दिल्ली से सटे गुड़गाँव की सड़कों पर मज़दूरों का सैलाब उमड़ पड़ा। एक लाख से ज़्यादा मज़दूर इस हड़ताल में शामिल हुए। पूरे गुड़गाँव मानेसर औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन लगभग ठप हो गया। पूरी गुड़गाँव-धारूहेड़ा पट्टी में बावल और रेवाड़ी तक के कारख़ानों पर हड़ताल का असर पड़ा।

इससे एक दिन पहले 19 अक्टॅबर को रिको ऑटो नामक कम्पनी के मज़दूरों के शान्तिपूर्ण प्रदर्शन पर कम्पनी के सिक्योरिटी गार्डों के वेष में भाड़े के गुण्डों ने हमला किया और उनकी चलायी गोलियों से अजीत यादव नाम के मज़दूर की मौत हो गयी। इस क़ातिलाना हमले में बहुत से मज़दूर घायल भी हो गये। इस हमले ने पूरे इलाके के मज़दूरों में लम्बे समय भीतर ही भीतर सुलगते गुस्से को भड़का देने वाली चिंगारी का काम किया। रिको ऑटो के आन्दोलनरत मज़दूरों के साथ सोना कोयो स्टीयरिंग सिस्टम्स, हीरो होण्डा, बजाज मोटर्स, सनबीम, स्कूटर्स इंझिडया, मारुति उद्योग सहित दर्जनों कम्पनियों के मज़दूरों ने रीकोके गेट पर धारना दिया। पूरे इलाके में एक से डेढ़ लाख मज़दूर सड़कें पर उतरे। आसपास के कई जिलों से पुलिस बल बुलाया गया लेकिन मज़दूरों के गुस्से और उग्र तेवरों को देखकर कोई कार्रवाई करने की प्रशासन की हिम्मत नहीं पड़ी।

गुड़गाँव-मानेसर की औद्योगिक पट्टी में पिछले कई महीनों से मज़दूर असन्तोष खदबदा रहा है। पिछली जुलाई से दर्जनभर से ज़्यादा कम्पनियों में हड़ताल हो चुकी है। यह इलाका देश में ऑटोमोबाइल कम्पनियों के सबसे बड़े केन्द्रों में से एक है। यहाँ हर महीने क़रीब 28,000 गाड़ियाँ बनती हैं, यानी देश की कुल कारों और मोटरसाइकिलों का 60 प्रतिशत।

इन अत्याधुनिक कम्पनियों की ऊपरी चमक-दमक के पीछे की काली सच्चाई यह है कि यहाँ मज़दूरों से बेहद कम मज़दूरी पर उजरती ग़ुलामों की तरह काम कराया जाता है। इस इलाके में स्थित ऑटोमोबाइल और ऑटो पार्ट्स बनाने की क़रीब 800 इकाइयों में काम करने वाले 10 लाख से ज़्यादा मज़दूरों में क़रीब तीन चौथाई ठेका या कैजुअल मज़दूर हैं। 12-12 घण्टे कमरतोड़ मेहनत के बाद उन्हें जो न्यूनतम मज़दूरी मिलती है वह कम्पनी के थोड़े से नियमित कर्मचारियों के मुक़ाबले 5-6 गुना कम होती है। उनके काम की स्थितियाँ बहुत कठिन हैं, मामूली सुविधाएँ भी नहीं मिलतीं और सबसे बड़ी बात यह कि वे एकदम तानाशाही जैसे माहौल में काम करते हैं। मशीनों की रफ़्तार बढ़ाकर उनसे बतहाश काम लिया जाता है, और सिर पर सवार सुपरवाइज़र बात-बात पर गालियाँ-धमकियाँ देता रहता है।

सिक्योरिटी गार्ड के नाम पर कम्पनियों ने इलाके के गुण्डों और पहलवानों को भरती कर रखा है जो किसी भी बात पर मज़दूर की पिटाई कर देना अपना अधिकार समझते हैं। ज़्यादातर मज़दूर हर समय एक मनोवैज्ञानिक आतंक के साये में जीते और काम करते हैं। थोड़ा भी विरोध करने या किसी सुविधा की माँग करने पर निकालकर बाहर कर दिया जाता है। हर समय अनिश्चितता के माहौल में रहते हैं मज़दूर। मज़दूरों की हड्डियों से मज्जा तक निचोड़कर ये कम्पनियाँ बेहिसाब मुनाफ़ा कमा रही हैं। पिछले एक साल में मन्दी के बावजूद ऑटोमोबाइल उद्योग में 14.5 प्रतिशत की दर से बढ़ोत्तरी हुई। भारत इस समय दुनिया का सबसे तेज़ी से बढ़ता ऑटो बाज़ार बन चुका है लेकिन मज़दूरों की हालत दिन-ब-दिन ख़राब होती जा रही है।

ज्यादातर कारख़ानो में कोई यूनियन नहीं है। यूनियन बनाने की तमाम कोशिशों को मैनेजमेण्ट किसी न किसी तरह नाकाम कर देता है। अगुवा मज़दूरों पर अनुशासनहीनता का आरोप लगाकर उन्हें निकाल दिया जाता है। ज़्यादातर कारख़ानों में यूनियन के गठन को लेकर ही टकराव होता रहा है। इन हालात को लेकर मज़दूरों के भीतर ज़बर्दस्त असन्तोष है। जगह-जगह हो रही टकराहटें और हड़तालें सतह के नीचे सुलगते ज्वालामुखी का संकेत दे रही हैं। ये आने वाले तूफ़ान के संकेतक हैं। किसी जुझारू संगठित विकल्प के अभाव के चलते आज वहाँ एटक और सीटू के धन्धेबाज़ नेता हावी हैं।

लेकिन यह स्थिति ज़्यादा दिनों तक नहीं चलती रह सकती। देश के ज़्यादातर हिस्सों की तरह गुड़गाँव के मज़दूरों की समस्या सिर्फ़ आर्थिक माँगों की नहीं है। उनकी लड़ाई राजनीतिक अधिकारों की भी है। उन्हें जुझारू ढंग से संगठित करने और उनके संघर्ष को राजनीतिक चेतना देने की ज़रूरत है। माकपा और भाकपा से जुड़ी यूनियनों के नौकरशाह नेता यह काम नहीं कर सकते।

आज मज़दूरों के उग्र तेवर देखकर भाकपा सांसद और एटक के नेता गुरुदास दासगुप्ता जैसे लोग यह बयान भी दे रहे हैं कि अगर पूँजीपतियों के गुण्डे मज़दूरों पर गोलियाँ चलायें तो उन्हें भी हथियार उठाने का हक है। लेकिन वास्तव में ये मज़दूरों के गुस्से की आग पर पानी के छींटे डालने और उन्हें चन्द टुकड़े दिलवाने से ज़्यादा कुछ नहीं कर सकते। इन्हीं दासगुप्ता महोदय ने दूसरी जगह फ़रमाया कि ट्रेड यूनियनें तो सेफ़्टी वाल्व का काम करती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के इस धूर्त शुभचिन्तक ने सरकार और पूँजीपतियों को समझाया कि यूनियन बन जाने दो, इससे मज़दूरों के गुस्से के बाहर निकलने का एक ज़रिया हो जायेगा और उन्हें कुछ लॉलीपाप थमाकर शान्त किया जा सकेगा। अगर ऐसा कोई सेफ्टी वाल्व नहीं हो, तो आक्रोश फटकर इस व्यवस्था को ही तबाह कर सकता है। इन धन्धेबाज़ों के लिए ट्रेड यूनियनें वर्ग संघर्ष की पाठशाला नहीं बल्कि महज़ "सेफ्टी वाल्व" ही हो सकती हैं। लेकिन मज़दूर हमेशा ही इनके भरोसे बैठा नहीं रहेगा। और न ही किसी क्रान्तिकारी विकल्प का इन्तज़ार करता रहेगा। आने वाले दिनों में मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त उभार फूट पड़ेंगे। क्रान्तिकारी ताक़तों को इन स्थितियों को पहचानना होगा और अपनी तैयारियाँ तेज़ कर देनी होंगी।

केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों का संयुक्त तमाशा

शर्म इनको मगर नहीं आती!

लाखों की सदस्य संख्या वाली तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों ने मिलकर पिछले 28 अक्टूबर को न्यूनतम मज़दूरी सहित मज़दूरों की माँगों पर देशव्यापी प्रदर्शन के नाम पर जो फूहड़ नौटंकी पेश की उस पर हँसा भी नहीं जा सकता। एटक, सीटू, इण्टक, बीएमएस, एचएमएस आदि इन राष्ट्रीय यूनियनों ने कुल मिलाकर जितने लोग इकट्ठा किये उससे ज़्यादा तो कोई टुटपूँजिया नेता विधायक का पर्चा भरने जाते समय जुटा लेता है। मगर मज़दूर हितों की लड़ाई को अपनी नपुंसकता के घिनौने प्रदर्शन में तब्दील कर देने में इन दल्लों को शर्म नहीं आयी।

इस बार का "राष्ट्रव्यापी विरोध प्रदर्शन" भी उन तमाम तमाशों से अलग नहीं था जो नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के समय से ही ये बीच-बीच में करते रहे हैं। ये सभी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें किसी न किसी चुनावबाज़ पार्टी से जुड़ी हुई हैं और उनके बड़े नेताओं में से कई तो संसद में भी बैठते रहे हैं।

पिछले दो दशकों के दौरान निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का बुलडोज़र मज़दूरों पर चलता रहा है, पहले से मिले हुए उनके अधिकार भी एक-एक करके छीने जाते रहे हैं और सभी पार्टियों की सरकारें इसमें शामिल रही हैं। काँग्रेस से जुड़ी इण्टक और भाजपा से जुड़ी बीएमएस के नेता तो इन नीतियों का उग्र विरोध करने की बात सोच भी नहीं सकते, मगर मज़दूरों की रहनुमाई का दावा करने वाले नकली वामपंथियों ने भी संसद में गत्ते की तलवार भाँजने और टीवी पर गाल बजाने के अलावा और कुछ नहीं किया है। करें भी कैसे? पश्चिम बंगाल और केरल में जहाँ उनकी सरकारें हैं, वहाँ तो वे उन्हीं नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू कर रहे हैं – मज़दूरों को लूटने के लिए पूँजीपतियों की राह में लाल गलीचे बिछा रहे हैं और विरोध करने पर किसानों व आदिवासियों पर गोलियाँ बरसा रहे हैं।

लेकिन इन संशोधनवादी ग़द्दारों की मजबूरी यह है कि अपनी दुकान का शटर डाउन होने से बचाने के लिए उन्हें मज़दूरों के बीच अपनी साख बचाये रखने के लिए कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। इसीलिए वे बीच-बीच में विरोध के नाम पर कुछ नाटक-नौटंकी करते रहते हैं।

ट्रेड यूनियन की बड़ी-बड़ी दुकानें चलाने वाले मज़दूर-हितों के इन सौदागरों का सबसे बड़ा आधार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में संगठित मज़दूर तथा निजी क्षेत्र के कुछ बड़े उद्योगों में काम करने वाले संगठित मज़दूरों के बीच था। निजीकरण-उदारीकरण की आँधी में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के लाखों संगठित मज़दूरों की नौकरियाँ तो गयीं ही, इन धन्धेबाज़ों के ज़्यादातर तम्बू-कनात भी उखड़ गये। आज देश की 45-46 करोड़ मज़दूर आबादी में से करीब 95 प्रतिशत असंगठित मज़दूर हैं जिन्हें संगठित करने की बात तो दूर, उनकी माँग उठाना भी ट्रेड यूनियन के इन मदारियों ने कभी ज़रूरी नहीं समझा। मगर मज़दूरों की इस भारी आबादी में भीतर-भीतर सुलगते गुस्से और बग़ावत की आग को भाँपकर अब ये न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, ठेका प्रथा जैसी माँगों के सहारे असंगठित मज़दूरों के बीच अपनी नाक बचाने के लिए उछलकूद कर रहे हैं। लेकिन दशकों से टुकड़े माँगते रहने की लिजलिजी अर्थवादी राजनीति करते-करते और ट्रेड यूनियन नौकरशाही की जड़ता के चलते इनके सारे संगठन ऊपर से नीचे तक इतने ठस और जर्जर हो चुके हैं कि चाहकर भी ये अपनी ताक़त का ज़ोरदार प्रदर्शन नहीं कर सकते। ये चाहते तो हैं कि असंगठित मज़दूरों के बीच भी अपने संगठन का नया पण्डाल सजा दिया जाये लेकिन काफ़ी काँख-कूँखकर भी ये लपलप डण्डों पर फटी-पुरानी पॉलिथीन की चादर तानने के सिवा कुछ नहीं कर पाते। "विशाल विरोध प्रदर्शन" की घोषणा कर दी जाती है लेकिन उसके लिए मज़दूरों को जगाने और गोलबन्द करने की कोई उत्साही कोशिश नहीं की जाती। बस देशभर में यूनियन की इकाइयों को निर्देश भेज दिया जाता है और दो-चार बयान जारी कर दिये जाते हैं। कुछ प्रतीकात्मक किस्म के धरना-प्रदर्शन करके विरोध का अनुष्ठान सम्पन्न हो जाता है।

इस बार भी ऐसा ही हुआ। राष्ट्रव्यापी प्रदर्शन की घोषणा कर दी गयी। कुछ अखबारों में बयान छप गये, औद्योगिक इलाकों में कुछ पोस्टर चिपका दिये गये जिनमें ज़्यादातर दीवार से उतरकर मरी हुई चिड़िया के पंखों की तरह फड़फड़ाने लगे। यहाँ-वहाँ तम्बू-माइक लगाकर कुछ भाषण-भूषण करने का रिवाज़ भी पूरा कर लिया गया। बस, इससे ज़्यादा कुछ करने की बात सोची भी नहीं गयी। मज़दूरों को बड़ी संख्या में जुटाने की कोशिश ही नहीं की गयी। दिल्ली में लाल किले से शुरू हुई कुछ सौ मज़दूरों की रैली आईटीओ के पास शहीद पार्क में जाकर ख़त्म हो गयी जहाँ यूनियनों के बड़े नेताओं ने गरमागरम भाषणों की रस्मअदायगी करके कार्यक्रम निपटा दिया। हर साल होने वाले ऐसे तमाम कार्यक्रमों की तरह यह भी आया और चला गया – न मज़दूरों की भारी आबादी के बीच कोई हलचल हुई और न ही सरकार के कान पर जूँ रेंगी। सच तो यह है कि ऐसे नपुंसक किस्म के कार्यक्रम सरकार और पूँजीपतियों का हौसला बढ़ाने का ही काम करते हैं। वे समझ जाते हैं कि बिखरे और नेतृत्वहीन मज़दूर वर्ग में अभी इतनी ताक़त नहीं है कि उनके अन्धाधुन्ध लूट अभियान की राह रोक सके। दूसरी ओर, इनके पोस्टर-बयान आदि देखकर जो मज़दूर कुछ उम्मीद पाल बैठते हैं कार्यक्रम का हश्र देखकर उनकी हताशा-निराशा और बढ़ जाती है।

सवाल उठता है कि लाखों-लाख की सदस्य संख्या का दावा करने वाली ये बड़ी-बड़ी यूनियनें करोड़ों मज़दूरों की ज़िन्दगी से जुड़े बुनियादी सवालों पर एक-दो लाख मज़दूर भी राजधानी की सड़कों पर क्यों नहीं उतार पातीं? अगर ये सवाल इनके नेताओं से पूछा जाये तो ये बड़ी बेशर्मी से इसका दोष भी मज़दूरों पर मढ़ते हुए कह देते हैं कि जी, हमने तो बहुत कोशिश की मगर मज़दूर आने को तैयार ही नहीं होते! इससे बड़ा झूठ कोई नहीं हो सकता। सच तो यह है कि मज़दूरों की भारी आबादी भयंकर शोषण, काम की जानलेवा स्थितियों, अपमान और लगातार छँटनी-तालाबन्दी-बेरोज़गारी का कहर झेल रही है और उसके भीतर असन्तोष का लावा सुलग रहा है। बीच-बीच में वह फूट भी पड़ता है, जैसे अभी गुड़गाँव में हुआ। वहाँ अपनेआप एक से डेढ़ लाख मज़दूर सड़कों पर उतर आये। हालत ये थी कि मज़दूर आगे-आगे थे और नेता पीछे-पीछे।

दरअसल, दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाई लड़ते-लड़ते मज़दूरों की जुझारू चेतना की धार भोथरी कर देने वाले और उन्हें इसी पूँजीवादी व्यवस्था में जीते रहने की शिक्षा देने वाले ट्रेड यूनियनों के ये मौकापरस्त, अर्थवादी, सुधारवादी, दलाल, धन्धेबाज़ नेता अब महज़ आर्थिक माँगों के लिए भी दबाव बना पाने की इच्छाशक्ति और ताक़त खो चुके हैं। संसदीय वामपंथी और उनके सगे भाई ट्रेड यूनियनवादी मौकापरस्त शुरू से ही मज़दूर आन्दोलन के भितरघातियों के रूप में पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी-तीसरी सुरक्षा पंक्ति की भूमिका निभाते रहे हैं। आज इनका यह चरित्र इतना नंगा हो चुका है कि मज़दूरों को ये ठग और बरगला नहीं पा रहे हैं। मज़दूरों की भारी असंगठित आबादी के बीच तो इनकी उपस्थिति ही बहुत कम है। विकल्पहीनता में कहीं-कहीं मज़दूर इन बगुला भगतों के चक्कर में पड़ भी जाते हैं तो जल्दी ही उनकी असलियत पहचानकर दूर भी हो जाते हैं। यह एक अच्छी बात है। लेकिन चिन्ता और चुनौती की बात यह है कि सही नेतृत्व की कमज़ोरियों और बिखराव के कारण मज़दूरों का क्रान्तिकारी आन्दोलन अभी संगठित नहीं हो पा रहा है। किसी विकल्प के अभाव, अपनी चेतना की कमी और

(पेज 2 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डॉ. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : डॉ. दूधनाथ, सुखविन्दर • सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006 • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ